मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 13 ● वर्ष 2 ● अंक 4 ● जुलाई 2012 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

अघोषित आपातकाल की तेज़ होती आहटें!

गहराते पूँजीवादी संकट और आक्रामक लुटेरी नीतियों के परिणामों से डरे हुए शासक वर्ग विरोध की हर सम्भावना को कुचलने की तैयारी में हैं

इसका मुक़ाबला आनुष्ठानिक विरोध से नहीं हो सकता, जनवादी अधिकारों पर व्यापक जनान्दोलन संगठित करने का समय आ चुका है!

● सम्पादक मण्डल

हाल के दिनों की कुछ घटनाएँ इस बात का संकेत हैं कि शासक वर्ग अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को दबा देने पर किस कदर आमादा हैं। पिछली 10 जुलाई को इलाहाबाद की एक अदालत ने पत्रकार और सामाजिक कार्यकर्ता सीमा आज़ाद और उनके पति विश्वविजय को देशद्रोह के आरोप में आजीवन कारावास की सज़ा सुना दी। ज्ञातव्य है कि इन दोनों को फरवरी 2010 में "प्रतिबन्धित साहित्य" रखने के आरोप में गिरफ़्तार किया गया था और पिछले 40 महीने से वे जेल में ही हैं। आज तक पुलिस उनके ख़िलाफ़ ऐसा कोई सबूत पेश नहीं कर पायी है जिससे देशद्रोही गतिविधियों में उनका लिप्त होना साबित होता हो। बर्बर सामूहिक हत्याओं के दोषियों को भी आसानी से ज़मानत दे देनी वाली अदालत ने सुप्रीम कोर्ट के उस फैसले पर भी कान नहीं दिया जिसमें साफ कहा गया है कि किसी व्यक्ति के पास अगर माओवादी साहित्य मिलता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे माओवादी मान लिया जाए। इससे पहले अनूप भुइयां बनाम असम सरकार के मुकदमे में न्यायाधीश मार्कण्डेय काटजू और न्यायाधीश ज्ञानसुधा मिश्र ने अपने फैसले में कहा था कि किसी प्रतिबंधित संगठन का सदस्य होने मात्र से किसी व्यक्ति को अपराधी नहीं कहा जा सकता जब तक वह हिंसा में लिप्त न हो या लोगों को हिंसा के लिए उकसा न रहा हो या सार्वजनिक तौर पर अव्यवस्था न फैला रहा हो या हिंसा को बढ़ावा न दे रहा हो। स्पष्ट है कि यह फ़ैसला उन लोगों के लिए एक चेतावनी है जो राज्य की बढ़ती जनविरोधी

नीतियों के ख़िलाफ़ लड़ रहे हैं या उनका पर्दाफ़ाश कर रहे हैं।

छत्तीसगढ़ के बीजापुर में 28 जून को केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस बल ने एक गाँव में रात को बैठकर फसल बुवाई के बारे में बात कर रहे लोगों पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर 20 लोगों को मार डाला। इसमें 15 वर्ष से कम उम्र के सात बच्चे और महिलाएँ भी थीं। खुद केन्द्र सरकार में आदिवासी मामलों के मंत्री के.पी. सिंह देव ने भी इसे 'फ़र्ज़ी मुठभेड़ में की गयी निर्मम हत्याएँ' करार दिया है। मगर गृहमंत्री चिदम्बरम हृदयहीन बेशर्मी और उद्दण्डता के साथ अड़े हुए हैं कि मरने वालों में "माओवादी" शामिल थे। पिछले कई वर्ष से राज्य और केन्द्र के सशस्त्र बल छत्तीसगढ़ में आदिवासियों के ख़िलाफ़ एक बर्बर युद्ध छेड़े हुए हैं। "माओवादी आतंकवाद" से निपटने के नाम पर उनका असली मकसद उन इलाक़ों में ज़मीन के नीचे दबी खरबों रुपये की खनिज सम्पदा को टाटा, बिड़ला, एस्सार आदि देशी पूँजीपतियों और आँख गड़ाये बैठी अनेक विदेशी कम्पनियों के लिए सुरक्षित करना है। खुद भारत सरकार की एक रिपोर्ट इसे कोलम्बस के बाद से अब तक का सबसे बड़ा 'ज़मीन हड़पो अभियान' घोषित कर चुकी है। बीजापुर की घटना और उस पर सरकारी प्रतिक्रिया का भी सन्देश एकदम साफ़ है – देशी-विदेशी लुटेरी पूँजी के हित में जारी सरकारी अश्वमेध के घोड़े की राह में जो भी आयेगा उसे कुचल दिया जायेगा!

पिछले फरवरी में केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय आतंकवाद निरोधक केन्द्र (एनसीटीसी) के गठन की अधिसूचना जारी की थी तो विरोधी पार्टियों और कई राज्यों की ग़ैर-कांगेसी सरकारों ने इस नयी खुफ़िया एजेंसी के कुछ प्रावधानों को लेकर विरोध जताया था। उस वक़्त इसे टाल दिया गया था लेकिन तय ही था कि उनकी आशंकाओं को दूर करके इसे जल्दी ही लागू कर दिया जायेगा क्योंकि जिस मक़सद से इसे लाया जा रहा है उस पर शासक वर्ग के सभी धड़ों की आम सहमति है। पिछले दिनों केन्द्र सरकार ने कहा कि वह एनसीटीसी को आईबी से अलग करने पर तैयार है जिस पर कई पक्षों को आपत्ति थी। जल्दी ही इसके अमल में आने का रास्ता भी साफ़ हो जायेगा। एनसीटीसी जिस यूएपीए के तहत काम करेगा वह एक घनघोर जनविरोधी काला क़ानन है। 1967 में बने इस क़ानून में

(पेज 14 पर जारी)

जन स्वास्थ्य की जानलेवा दुर्गति

रोज़गार, रोटी, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा - ये पाँच बुनियादी मानवीय आवश्यकताएँ देश के सभी लोगों को मुहैया कराना हर जनवादी सरकार का फ़र्ज़ होता है। भारत की जनता से भी 1947 में यही वादा किया गया था। मगर 65 वर्षों के दौरान भारतीय राज्य एक-एक करके अपनी सभी ज़िम्मेदारियों से मुकरता गया है। ख़ासतौर पर पिछले 22 वर्षों से जारी निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों ने स्वास्थ्य के रहे-सहे ढाँचे को भी चौपट करके आम जनता के स्वास्थ्य को पूरी तरह बाज़ार के खूनी भेड़ियों के हवाले कर दिया है।

'मज़दूर बिगुल' के इस अंक से हम देश में जनस्वास्थ्य के जानलेवाा हालात और स्वास्थ्य की अर्थनीति और राजनीति पर रिपोर्टों की एक श्रृंखला शुरू कर रहे हैं। (पेज 16) इसकी शुरुआत दवा कम्पनियों के खूनी खेल से की जा रही है।

आगामी अंकों में हम इन मुद्दों पर रिपोर्टें देंगे

- सरकारी अस्पतालों की तबाही-बदहाली पर
- निजी अस्पतालों की लूट पर
- 'डॉक्टर या डकैतों के संगठित गिरोह!'
- मेडिकल शिक्षा की स्थिति पर
- सबके लिए स्वास्थ्य को शानदार ढंग से लागू करने वाले अतीत के प्रयोगों पर

ब्रह्माण्ड के रहस्यों को सुलझाने की दिशा में इन्सान का एक और क़दम 6–7

स्त्री मज़दूरों का संघर्ष श्रम की मुक्ति के महान संघर्ष का हिस्सा है 11

दलितवादी राजनीति की त्रासदी: खोखला प्रतीकवाद और रस्मवाद 12

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

ये कहानी नहीं बल्कि सच्चाई है

मैं करावल नगर, दिल्ली में रहता हूँ। यहाँ मैं रिक्शा चलाने का काम करता हूँ। यह चिट्ठी मैंने अपनी बेटी से लिखवायी है क्योंकि मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता। जब मैं छह साल का था उस समय से ही मज़दूरी करना शुरू कर दिया था। बचपन में फ़रीदाबाद के एक मालिक की भैंस चराया करता था और उसके बदले मालिक मुझे सिर्फ़ खाना दिया करता था। कुछ वर्ष बाद बेहतर काम की तलाश में मैं रोलिंग मिल में काम करने लगा। यहाँ पर ठेकेदार हमसे हाड़-तोड़ मेहनत करवाता था; बदले में कुछ पैसा देता था, बाकी पैसे बाद में देने का वादा करता था। कुछ समय बाद वह मेरा पिछला बकाया पैसा लेकर भाग गया। इसके बाद मैं सोनीपत आ गया और वहाँ एक बड़े किसान के यहाँ खेत मज़दूरी करने लगा। वहाँ भी दिन-रात खटने के बाद भी जिन्दगी बड़ी मुश्किल से कट रही थी।

बेहतर जिन्दगी की तलाश में दिल्ली के मण्डोली इलाके में हैण्ड मशीन की फैक्ट्री में काम करने लगा। यहाँ दस साल तक मालिक बहला-फुसलाकर और कभी मीठी-मीठी बातें बोलकर काम करवाता रहा। यहाँ भी मालिक पूरे पैसे नहीं देता था। भूखे-प्यासे रहकर मैने एक हैण्ड मशीन खरीद ली पर उसे वहाँ के बड़े मालिकों ने चलने ही नहीं दिया। उसके बाद मैंने रिक्शा ले लिया। रिक्शा भी कई बार चोरी हो गया। जब मैं चोरी की रिपोर्ट लिखवाने थाने गया तो वहाँ चोर का नाम और पता बताने के बाद भी पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की। राशन कार्ड बनवाने के लिए महीनों चक्कर काटता रहा, कई जगह पैसे भी दिये लेकिन सब बेकार रहा।

इस बीच मेरी पत्नी बीमार पड़ गयी; उसे दिखाने के लिए सरकारी अस्पताल ले गया, वहाँ डॉक्टरों ने इलाज में लापरवाही की जिसके कारण मेरी पत्नी नहीं बच सकी। कुछ रिश्तेदार हैं जो थोड़े पैसे वाले हैं; उन पर भी विश्वास किया और वहाँ से भी धोखा ही मिला।

अपनी ज़िन्दगी के अनुभव से मुझे विश्वास हो गया है कि सभी पूँजीपति एक जैसे ही होते हैं और जब तक यह व्यवस्था क़ायम रहेगी तब तक हम मज़दूरों को दर-दर भटकना पड़ेगा, गालियाँ, डण्डे खाने पड़ेंगे और जान भी गँवानी पड़ेगी। इसलिए जितनी जल्दी हो इस व्यवस्था को बदल दो। पूँजीवाद मुर्दाबाद!

– भोला सिंह चौहान
करावल नगर, दिल्ली

"ठेकेदार अपना आदमी है!"

मैं एक लोहा प्लांट में काम करता हूँ। मालिक ने सारा काम ठेके पर दे रखा है। श्रम क़ानून जैसी बात न तो मालिक मानता है और न ही ठेकेदार। हमें पहचान पत्र, हाज़िरी कार्ड, ई.एस.आई. कार्ड, बोनस जैसी कोई भी सुविधा नहीं मिलती। मालिक से पूछो तो वो ठेकेदार की ओर भगा देता है, और ठेकेदार से पूछो तो वो मालिक की ओर उँगली कर देता है। दोनों मिल के हमें श्रम क़ानूनों में लिखी कोई भी सुविधा देने के लिए तैयार नहीं हैं। इसमें मज़दूरों का भी बहुत दोष है। जिस ठेकेदार के पास मैं काम करता हूँ, उसके ज़्यादातर मज़दूर या तो उसके रिश्तेदार हैं या फिर उसके गाँव के लोग हैं। अगर मैं या एकाध और मज़दूर जो ठेकेदार के रिश्तेदार नहीं हैं, दूसरे मज़दूरों से श्रम क़ानूनों की बात करते हैं तो सभी का यही जवाब होता है – यार ठेकेदार अपना आदमी है, रिश्तेदार है, गाँव का है। अब अपने आदमी से क्या कहें, अच्छा नहीं लगता। उसने हमें काम दिलाया है। हमारे मज़दूर ये नहीं समझते कि अगर वो अपना आदमी है तो क्या उसको हमारे अधिकार छीनने चाहिए? यदि वो अपना आदमी है तो उसे तो हमारा ज़्यादा ख़्याल रखना चाहिए था, मगर वो तो बाकी सभी ठेकेदारों की तरह ही हमारी लूट कर रहा है। अगर उसको हमारा रिश्तेदार या गाँव का आदमी होकर भी हमारी लूट करने में थोड़ी-सी शर्म नहीं है, तो हम लोग अपना अधिकार माँगने में इतना क्यों शर्माते हैं? मेरे विचार से तो इस मुनाफ़े की दौड़ में कोई अपना-पराया नहीं होता। अगर ठेकेदार ज़्यादा कमाई करने के लिए अपने रिश्तेदारों या गाँव-देहात के लोगों का ख़ून चूसने में संकोच नहीं करता तो हमें भी उससे अपने अधिकार लेने में हिचक नहीं दिखानी चाहिए।

– लुधियाना से एक मज़दूर

मज़दूर साथियो, 'आपस की बात' आपका पन्ना है। इसमें छापने के लिए अपने कारख़ाने, काम, बस्ती की समस्याओं व स्थितियों के बारे में, अपनी सोच के बारे में लिखकर हमें भेजिये। आपको 'बिगुल' कैसा लगता है, इसमें क्या अच्छा लगता है और क्या कमियाँ नज़र आती हैं, इसे और बेहतर कैसे बनाया जा सकता है – इन बातों पर भी आपकी राय जानने से हमें मदद मिलेगी। आप नीचे दिये पते पर हमें पत्र लिख सकते हैं या बिगुल कार्यकर्ता साथी को ज़ुबानी भी बता सकते हैं।– सम्पादक मण्डल

मज़दूर बिगुल की नयी वेबसाइट
आप यहाँ देख सकते हैं:
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। हम बिगुल के प्रवेशांक से लेकर अब तक के सभी अंक वेबसाइट पर उपलब्ध कराने के लिए काम कर रहे हैं।

आप इस वेबसाइट पर जाकर भी बिगुल की सामग्री पर अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं या कोई रिपोर्ट आदि हमें भेज सकते हैं।

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

क्या आपने ये बिगुल पुस्तिकाएँ पढ़ी हैं?

चोर, भ्रष्ट और विलासी नेताशाही
भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र की एक नंगी और गन्दी तस्वीर
रु. 3.00

बोलते आँकड़े, चीख़ती सच्चाइयाँ
नवउदारवादी अर्थनीति के 18 वर्ष – भारत की तरक्की के दावों के ढोल की पोल – समृद्धि के तलघर में नर्क का अँधेरा
रु. 3.00

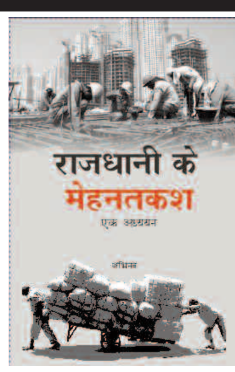

राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन
– अभिनव
रु. 15.00

फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?
– अभिनव
रु. 15.00

नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार
– आलोक रंजन
रु. 50.00

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522-2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- 114, जनता मार्केट, रेलवे स्टेशन रोड, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09910462009
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता। बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये। सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigul@rediffmail.com
मूल्य	: एक प्रति – रु. 5/- वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

कारख़ाना इलाक़ों से

आवाज़ निकालोगे तो काम से छुट्टी

मैं लुधियाना की एक कपड़ा मिल में ठेके पर काम करता हूँ। यहाँ पर टी-शर्ट बनाने का काम होता है जो विदेश की बड़ी कम्पनियाँ ख़रीद कर बेचती हैं। मेरा काम टी-शर्ट के कालर की सिलाई करने का है। कुछ दिन पहले मालिक और ठेकेदार ने मिलके मुझे तथा चार और मज़दूरों को काम से निकाल दिया है। बाकी सभी मज़दूरों की तरह हम भी बारह घण्टे काम करते थे लेकिन मालिक का लालच इससे भी पूरा नहीं होता था। अक्सर हमें तीन-तीन शिफ़्ट लगातार काम करना पड़ता था। तीन शिफ़्ट काम करने के दौरान हमसे कमरे पर आना नहीं हो पाता था इसलिए हम कम्पनी की कैंटीन में ही खाना खाते थे जिसका पैसा पहले मालिक या ठेकेदार अपनी तरफ से देते थे लेकिन पिछली कुछ बार से उन्होंने ऐसा करना बन्द कर दिया था। मैंने और मेरे चार दूसरे मज़दूर साथियों ने सब मज़दूरों से खाने का पैसा लेने के लिए ठेकेदार से बात करने के लिए कहा। इस बात का पता ठेकेदार को चल गया और मालिक को भी। इसीके बाद से वे हम लोगों को निकालने का मौका तलाश रहे थे। कुछ दिन बाद हम पाँचों में से मैं और एक और मज़दूर बीमार पड़ गये जिसके कारण हमें एक दिन के लिए फ़ैक्ट्री से छुट्टी करनी पड़ी। बस इतनी सी बात पर हम दोनों सहित उन पाँच मज़दूरों का हिसाब कर दिया गया जिन्होंने खाने का पैसा लेने की बात उठायी थी। असल में मज़दूरों की कोई एकता न होने के चलते ही ठेकेदार और मालिक लोग ये सब करने का हौसला कर पाते हैं। मालिकों और ठेकेदारों की गुण्डागर्दी इतनी बढ़ चुकी है कि मज़दूर ज़रा-सी आवाज़ भी निकालते हैं तो काम से छुट्टी हो जाती है। ऐसा लग रहा है कि आने वाले समय में अगर मज़दूर के साँस लेने की भी आवाज़ आयेगी तो ये शैतान उनकी गर्दन पर बैठ जाया करेंगे।

इसी फ़ैक्ट्री के बारे में मैं कुछ और बातें भी करना चाहता हूँ। इस फ़ैक्ट्री में बड़ी कम्पनियों के लोग तैयार माल का ऑर्डर देने के लिए आते हैं जिनमें एडीडास, नाइक जैसी विदेशी कम्पनियाँ भी होती हैं। जब कम्पनियों के लोग ऑर्डर देने आते हैं तो मालिक इनकी खूब आवभगत करते हैं। सारी फ़ैक्ट्री को चकाचक कर दिया जाता है। मज़दूरों को बाहर से आने वाले लोगों को क्या-क्या जवाब देना है, ये रटाया जाता है। तनखाह पूछने पर असल तनखाह से ज़्यादा बोलने के लिए कहा जाता है। सभी मज़दूरों को जूते तक लाकर दिये जाते हैं। हमारी सिलाई मशीनों में सुई के चारो ओर लगने वाला गार्ड भी फिट कर दिया जाता है। ऐसे दिखाया जाता है कि मालिक मज़दूरों की देखभाल पर बहुत खर्चा करता है। लेकिन जैसे ही कम्पनी के आदमी जाते हैं, उनके साथ ही मज़दूरों के पैरों से जूते भी चले जाते हैं और मशीन में लगे गार्ड भी। मज़दूरों की उँगलियों में से फिर से तेज़ रफ़्तार से चलने वाली सिलाई मशीन की सुई आर-पार होने लगती है। फिर पूरा साल मज़दूरों के काम करने वाले स्थान की तरफ कोई देखता भी नहीं और शौचालय इतने गन्दे और सड़ाँध से भर जाते हैं कि वहाँ कोई जानवर भी न जाये। लेकिन मज़दूरों को जाना पड़ता है। फ़ैक्ट्री मज़दूरों के लिए जेल की तरह है। फ़ैक्ट्री पहुँचते ही हम लोगों के अन्दर अजीब किस्म का डर-सहम घुसने लगता है और हमारे सिर मुजरिमों की तरह झुक जाते हैं। काम करते हुए बार-बार हम समय देखते हैं कि कब बारह घण्टे ख़त्म हों, कब मुक्ति मिले। मगर ये मुक्ति ज़्यादा देर नहीं रहती। अगली सुबह फिर जेल। अपराधिओं को बड़े-बड़े जुर्म के लिए भी दस-बीस साल की जेल होती है, लेकिन हम लोगों की पूरी ज़िन्दगी इन जेलों में निकल जाती है जिन्हें लोग फ़ैक्ट्री कहते हैं, और वह भी बिना किसी गुनाह के!

● राम दुलार, टेलर मास्टर, लुधियाना

मज़दूरों में मालिक-परस्ती कम चेतना का नतीजा है

जी-1 फेस-3 बादली औद्योगिक क्षेत्र दिल्ली-42 स्थित फैक्टरी में रांगा की बनी हुई प्लेटें आती हैं जिसकी फिटिंग करके बैट्री बनाकर तैयार होती है। मालिक की कई पार्टियाँ बँधी हुई हैं जो कि राँगे की प्लेटें, प्लास्टिक का खोल, टोप, हैण्डिल और ढक्कन छोड़ जाती हैं और तैयार बैट्री ले जाती हैं। यहाँ रोज़ाना करीब 100 बड़ी बैट्री (12 वोल्ट) तैयार होती हैं जिनकी बाज़ार में कीमत करीब 7 से 10 हजार रुपये प्रति बैट्री है। ख़ुद बाप-बेटा एसी की हवा में कुर्सी तोड़ने के चार्ज के रूप में लगभग 1000 रुपये एक बैट्री पर लेते हैं। इस फैक्ट्री में कुल 12 मज़दूर काम करते हैं जिसमें दो कारीगरों की तनख़्वाह 10,500 रुपये, 6 हेल्परों की तनख़्वाह 4500 रुपये है और एक ठेकेदार पीस रेट पर प्रति बैट्री 7 रुपये के हिसाब से प्लेटों को गर्म करके नक्शा लगाने का काम करता है। 3 पुराने हेल्परों की 6-7 हज़ार तनख़्वाह और बिल्डिंग का किराया वगैरह निकालकर भी हर बैट्री पर 300 रुपये मालिक को फ़ायदा होता है। यानी कम से कम 30,000 रुपये का मुनाफ़ा रोज़ाना!

फ़ैक्ट्री में सभी मज़दूर मालिक से बहुत खुश रहते हैं क्योंकि मालिक कभी भी मज़दूरों से न गुस्से में और न ही बुरा शब्द बोलता है। बाप-बेटा दोनों बस मीठी छुरी चलाते हैं। आराम से दोनों ऑफ़िस में एसी की हवा खाते हुए काम का जायज़ा लेते रहते हैं। चेहरे पर एक शिकन तक नहीं दिखती है। मालिक तो मज़दूरों को कुछ नहीं कहता मगर मज़दूर ही एक-दूसरे की टाँग-खिंचाई करते रहते हैं। काम करने में कोई कोर-कसर नहीं। सभी बारहों मज़दूर बैल की तरह लगे रहते हैं। 12 घण्टे में 12 लोग 100 बैट्री बनाकर तैयार करते हैं। कोई मामूली बात नहीं है। पूरी फ़ैक्ट्री का टेम्परेचर दिनभर 50 डिग्री सेल्सियस से भी ऊपर रहता है क्योंकि एक तो कढ़ाई में राँगा गलाया जाता है, दूसरे, लोहे की चादर काटने के लिए दिनभर गैस भी जलायी जाती है। इसके अलावा बैट्री में ढक्कन लगाने के लिए 400 डिग्री सेल्सियस पर हीटर गर्म किया जाता है। दोमंज़िला इमारत में मज़दूरों के लिए केवल 3 पंखे और 3 एक्ज़ास्ट लगे हुए हैं। प्लेटों से कार्बन छुड़ाने के लिए प्लेटों की घिसाई होती है जिससे फ़ैक्ट्री में फेफड़ों के लिए बेहद नुकसानदेह प्रदूषण भी फैला रहता है। अंग्रेज़ों के ज़माने से नियम बना हुआ है कि प्रदूषण वाली फ़ैक्ट्रियों में हर मज़दूर को 100 ग्राम गुड़ व 250 ग्राम दूध रोज़ मिलना चाहिए। मगर आजकल किसी को बताओ तो कहेगा कि मज़ाक कर रहे हो! यहाँ तो दस्ताने तक नहीं मिलते; यहाँ तक कि जो आदमी मशीन पर प्लेट की घिसाई करते हैं उनको भी नहीं मिलते हैं जिससे कि हाथ कटते-फटते रहते हैं। मशीन वाले मज़दूर को भी बहुत रिरियाना पड़ता है, तब जाकर कहीं एक हाथ का दस्ताना मिलता है (जोड़ा नहीं)। दस्ताना फट तो दो घण्टे में ही जाता है मगर दो दिन बाद दिया जाता है। मुँह पर बाँधने वाले कपड़े देने का नियम है। मगर यहाँ कपड़ा अगर गन्दा हो जाये तो उसको धोकर तब तक बाँधना पड़ता है जब तक चिथड़े-चिथड़े न हो जाये।

इन सब स्थितियों के बाद भी मज़दूर कहते हैं, 'मालिक बहुत दिलदार है।' इसका कारण यह है कि उन्हें न तो अपने अधिकारों की जानकारी है और न ही इस बात की चेतना है कि इंसाफ़ और बराबरी किस चिड़िया का नाम है। इसीलिए मालिकों से छोटे-छोटे टुकड़े पाकर ही मज़दूर खुश हो जाते हैं। हमें मज़दूरों में फैली इस सोच के ख़िलाफ़ भी लड़ना होगा, क्योंकि यह मानसिकता मज़दूरों को संगठित होने में बाधक है।

● शिवानन्द, बादली, दिल्ली

तनख्वाह उतनी ही, मगर काम दोगुना

पूँजीपति ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए मज़दूरों से ज़्यादा से ज़्यादा काम लेने के तरीके निकालते रहते हैं। कभी वे मशीन की रफ़्तार बढा देते हैं तो कभी प्रति मज़दूर मशीनों की संख्या बढ़ा देते हैं। पिछले दिनों लुधियाना की एक ट्रैक्टर पार्ट बनाने वाली फैक्ट्री में ऐसा ही हुआ। इसमें काम करने वाले कई किस्म के कारीगरों में एक हैं चूड़ी डालने वाले कारीगर। यह काम करने वाले कारीगर तनख्वाह पर काम करते हैं। पहले हर कारीगर एक मशीन चलाता था। प्रोडक्शन बढ़ाने के लिए मालिक ने फैसला सुनाया कि अब हर कारीगर दो मशीनें चलायेगा। मज़दूरों के अनुसार इस मशीन पर काम करते हुए हर मिनट के बाद नये पार्ट को चूड़ी डालने के लिए मशीन में रखना होता है। इसी एक मिनट पर मालिक की नज़र थी। मालिक के अनुसार बीच के समय में मज़दूर खाली रहता है, इस समय के दौरान वह दूसरी मशीन पर काम कर सकता है। मालिक की मुनाफ़े की हवस इतनी ज़्यादा है कि वह चाहता है कि मज़दूर के हाथ कुछ सेकंडों के लिए भी खाली न रहें। जब दो मशीनों पर काम करना पड़ेगा तो प्रोडक्शन का टारगेट भी दोगुना हो जाएगा। अब मज़दूरों को दोगुनी मेहनत करनी पड़ेगी, मगर उनकी तनख्वाह उतनी ही रहेगी। क्योंकि मालिक मज़दूर को एक दिन की दिहाड़ी के पैसे देकर उसको एक तरह से खरीद लेता है, फिर वह उससे जितना चाहे काम करवा सकता है। मगर मज़दूरों से बात करने पर सामने आया कि ऐसे मामलों को समझने के लिए उनकी चेतना बहुत पिछड़ी हुई है।

मज़दूरों में इस बात को लेकर गुस्सा है मगर वे इसका विरोध करने या तनख्वाह दोगुनी करने जैसी माँग करने की मानसिकता में नहीं हैं। कई मज़दूरों का कहना था कि वे किसी दूसरी जगह काम करने चले जायेंगे। कुछ मज़दूरों ने इससे निपटने के लिए मशीनों को ही ख़राब करने की योजना बना रखी थी, उनका कहना था कि वे एक ही मशीन चलायेंगे और दूसरी मशीन को ख़राब कर देंगे। जब तक मशीन ठीक हो पायेगी, तब तक उनकी शिफ़्ट ख़त्म हो जायेगी। बाकी मज़दूर तो बिल्कुल हारे हुए लग रहे थे। उनके अनुसार इसमें कुछ नहीं किया जा सकता, मालिक जैसे कहेगा, करना ही पड़ेगा। एक-दो मज़दूर ऐसे भी थे जो विरोध करना चाहते थे मगर उनका कहना था कि जैसे ही वे इस बारे में फैक्ट्री में कोई बात शुरू करेंगे मालिक के चापलूस कुछ मज़दूर ही सब कुछ जाकर मालिक को बता देंगे और मालिक उन्हें काम से निकाल देगा। इससे अच्छा है कि या तो ख़ुद ही काम छोड़ दिया जाये या फिर सिर झुका के काम किया जाये। दूसरे दिन पता चला कि सुबह की शिफ़्ट वाले कुछ मज़दूरों ने दो मशीनों पर काम करना चालू कर दिया जिसके चलते सभी मज़दूर मजबूर हो गये कि या तो काम करें या नौकरी से हाथ धोयें।

मज़दूरों को समझ लेना चाहिए कि एक जगह काम छोड़कर दूसरी जगह काम पकड़ लेने से इस लूट से उनका पीछा नहीं छूटेगा। क्योंकि भारत तो क्या दुनिया भर में कोई कारख़ाना ऐसा नहीं होगा जहाँ पर पूँजीपति मज़दूरों की मेहनत की लूट के लिए ऐसे हथकण्डे न अपनाते हों। और न ही मशीनें ख़राब करने से यह लूट ख़त्म हो सकती है। 200 साल पहले, जब मज़दूर अपने शोषण का कारण नहीं समझ पाते थे तो वे अपना गुस्सा मशीन पर निकालते थे। लेकिन जल्दी ही उन्हें समझ आ गया कि इससे उनकी हालत में कोई सुधार नहीं होने वाला। कुछेक मशीनें ख़राब होने से मालिक की सेहत पर ज़्यादा असर नहीं होगा और कैमरे आदि के ज़रिए जब कुछ मज़दूर पकड़ लिये जायेंगे तो यह सिलसिला अपने आप ही ख़त्म हो जायेगा।

इस लूट का विरोध किया जा सकता है और इसे बन्द भी करवाया जा सकता है। मज़दूरों ने ऐसा किया है और आगे भी करते रहेंगे। मज़दूरों ने न सिर्फ फ़ैक्ट्रियों में मेहनत की लूट पर नकेल डालने के लिए लड़ाइयाँ लड़ी और जीती हैं, बल्कि उन्होंने इस पूँजीवादी व्यवस्था का भी तख़्ता पलटा है। इसके लिए हमें अपना इतिहास पढ़ना चाहिए और आज के समय में देश-दुनिया में चल रहे मज़दूरों के संघर्षों के बारे में जानना चाहिए। दूसरी बात आती है कि विरोध कैसे करें? कोई भी लड़ाई लड़ने से पहले सबसे ज़रूरी है आपस में एकता बनाना और संगठित होना, जिसके बिना कोई भी संघर्ष बेकार साबित होगा।

● एक मज़दूर, लुधियाना

शरीर गलाकर, पेट काटकर जी रहे हैं मज़दूर!

मज़दूर बस्तियों से

सरकारी आँकड़ों में दावा किया जाता है कि देश के ग़रीबों को भी पहले से बेहतर खाना मिलने लगा है। इन दावों के झूठ की पोल खोलने के लिए बहुत-से अर्थशास्त्री दूसरे आँकड़े भी पेश करते हैं जो बताते हैं कि पिछले बीस वर्षों में जबसे देश में "विकास" का घोड़ा तेज़ी से दौड़ रहा है तबसे ग़रीबों के भोजन में लगातार गिरावट आती जा रही है। लेकिन जब तक हम प्रत्यक्षत: अनुभव नहीं करते हैं, तब तक विश्वास करना मुश्किल है कि इस भयानक महँगाई के दौर में आम मज़दूर आबादी क्या खाती-पीती और कैसे जीती है।

एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में मज़दूरों के लाजों और झुग्गी बस्तियों में जाने पर जब हम उनकी ज़िन्दगी को करीब से देखते हैं और उसके भागीदार बनते हैं तब हमें जो अहसास होता है वह अहसास उन किताबी आँकड़ों से कभी नहीं हो सकता।

एक दिन हमारी मज़दूर कार्यकर्ता साथी शुभी ने बताया कि वह फ़ैक्ट्री में अपने लंच में आलू की सब्ज़ी और रोटी ले गयी थी। लेकिन गर्मी की वजह से सुबह की बनी हुई सब्ज़ी ख़राब हो गयी थी तो वह उसे फेंकने लगी, तभी दो अन्य मज़दूर उसे डाँटने लगे कि सारी सब्ज़ी क्यों फेंक रही हो, सब्ज़ी में से आलू को निकाल कर पानी से धो लो, खाने लायक हो जायेगा। उन्होंने ऐसा ही किया। मैंने पूछा कि ख़राब खाना खाने से क्या उनकी तबियत नहीं ख़राब होती है, आपने मना क्यों नहीं किया, तो उन्होंने बताया कि ऐसा तो अक्सर ही होता है। लोग सड़ी हुई सब्ज़ी खाते हैं और काम करते रहते हैं, उन्हें कुछ नहीं होता है। आदत पड़ जाती है। गर्मी के दिनों में सुबह 7.30 बजे तक खाना बनाकर, नाश्ता करके, बाकी लंच पैक करके काम पर निकल जाना पड़ता है। कारख़ाने के भीतर और भी गर्मी होती है। ऐसे में कई दिन सब्ज़ी तो ख़राब हो ही जाती है। रोज़-रोज़ फेंकने लगे तो फिर खायेंगे क्या? वैसे भी महँगाई के कारण मज़दूर औरतें अक्सर बची-खुची, आधी ख़राब सब्ज़ी लेकर आती हैं। फिर उन्होंने ढेरों ऐसी घटनाएँ बतायीं जो रोंगटे खड़े कर देने वाली थीं।

अधिकांश मज़दूर परिवारों में बच्चों के लिए भी दूध नहीं नसीब होता है। माँएँ छोटे-छोटे बच्चों को पानी में आटे के बिस्कुट घोलकर पिलाती हैं। ये औरतें जाकर अपने बच्चे के 'बॉडी मास इंडेक्स' की जाँच तो नहीं करा सकती हैं, लेकिन देखकर ही जाना जा सकता है कि ये बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। इन बस्तियों में आते-जाते जितने बच्चों को हम देखते हैं, उससे बिना अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि इनमें सत्तर फ़ीसदी बच्चे और शायद इतनी ही स्त्रियाँ कुपोषण की शिकार हैं। पुरुष मज़दूरों की स्थिति भी इससे थोड़ी ही बेहतर है। सरकारी पैमाने से औद्योगिक मज़दूर को प्रतिदिन कम से कम 2700 कैलोरी भोजन मिलना चाहिए। भारी काम करने वालों को कम से कम 3000 कैलोरी मिलना चाहिए। लेकिन वास्तव में अधिकतर मज़दूर रोज़-रोज़ जो खाना खाते हैं उससे पेट भले ही भर जाये, मगर दिन भर काम करने के लिए ज़रूरी सन्तुलित और पौष्टिक भोजन वह नहीं होता। ऊपर से, इन मज़दूरों को कभी भी पूरा आराम नहीं मिलता। ज़्यादातर मज़दूर रोज़ 12-13 घण्टे काम करते हैं, और अक्सर हफ़्ते में सातों दिन बिना छुट्टी के काम करते हैं। ऐसे में शरीर अन्दर ही अन्दर कमज़ोर होता जाता है।

> **विश्व स्वास्थ्य संगठन के पैमाने से अगर किसी इलाक़े की 60 प्रतिशत आबादी कुपोषण की शिकार है, तो उस इलाक़े को "अकालग्रस्त" घोषित करके राहत के विशेष उपाय करने चाहिए। इस पैमाने के हिसाब से तो देश की राजधानी दिल्ली की आधी से ज़्यादा आबादी को तत्काल "अकालग्रस्त" घोषित किया जाना चाहिए!**

विश्व स्वास्थ्य संगठन के पैमाने से अगर किसी इलाक़े की 60 प्रतिशत आबादी कुपोषण की शिकार है, तो उस इलाक़े को "अकालग्रस्त" घोषित करके राहत के विशेष उपाय करने चाहिए। इस पैमाने के हिसाब से तो देश की राजधानी दिल्ली की आधी से ज़्यादा आबादी को तत्काल "अकालग्रस्त" घोषित किया जाना चाहिए! निश्चित ही, भारत सरकार ऐसा नहीं करेगी। क्योंकि ऐसा करने का मतलब होगा यह स्वीकार करना कि तथाकथित विकास की उसकी नीतियाँ ऊपर की 15 प्रतिशत आबादी के लिए खुशहाली का स्वर्ग और बाक़ी जनता के लिए बदहाली का नर्क पैदा कर रही हैं।

कुपोषण की यह स्थिति भला क्यों न हो। पिछले 15-20 सालों में कारख़ाना मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी लगातार कम होती गयी है। वैसे तो दिल्ली सरकार द्वारा घोषित न्यूनतम मज़दूरी (अकुशल मज़दूर की) 7020 रुपये में भी आज परिवार का गुज़ारा बहुत मुश्किल है, लेकिन 95 प्रतिशत मज़दूरों को तो वह भी नहीं मिलती। ज़्यादातर औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूरों को औसतन 120 से लेकर 160 रुपये प्रतिदिन की दर से मज़दूरी मिलती है और वह भी अक्सर पूरे महीने की नहीं मिलती। बात-बात पर मालिक और ठेकेदार पैसे काट लेते हैं या पैसे दबा लेते हैं। इतने कम पैसे में गुज़ारा चलाने के बारे में जब मज़दूर सोचता है तो वह सबसे पहले अपने खाने-पीने में ही कटौती करता है, क्योंकि मकान का किराया या बिजली बिल देने में कटौती नहीं कर सकता है। कहने को तो पिछले 3 वर्ष में मज़दूरी में 1000 से लेकर 1500 रुपये तक की बढ़ोत्तरी हुई है, लेकिन इसी बीच मकान के किराये से लेकर खाने-पीने की चीज़ों तक की महँगाई लगभग दोगुनी बढ़ चुकी है। मज़दूर बस्तियों में किराने की दुकानों पर मिलने वाले राशन, तेल-मसाले आदि की क्वालिटी तो घटिया होती ही है, अक्सर वे महँगी भी होती हैं। इन परिस्थितियों में जीने और काम करने के कारण स्त्री-पुरुष मज़दूर और उनके बच्चे आये दिन बीमार भी होते हैं और उनका ठीक से इलाज भी नहीं हो पाता।

ऊपरी तौर पर देखा जाये तो भले ही मज़दूरों के पास मोबाइल आ गया हो, वे जींस और टीशर्ट पहनने लगे हों, लेकिन उनकी ज़िन्दगी पहले से कहीं ज़्यादा कठिन हो गयी है। बहुत से सरकारी आँकड़े भी इस सच्चाई को उजागर कर देते हैं। 'असंगठित क्षेत्र में उद्यमों के बारे में राष्ट्रीय आयोग' की 2004-05 की रिपोर्ट के अनुसार करीब 84 करोड़ लोग (यानि आबादी का 77 फ़ीसदी हिस्सा) रोज़ाना 20 रुपये से भी कम पर गुज़ारा करे हैं। इनमें से भी 22 फ़ीसदी लोग रोज़ाना केवल 11.60 रुपये की आमदनी पर, 19 फ़ीसदी लोग रोज़ाना 11.60 रुपये से 15 रुपये के बीच की आमदनी पर और 36 फीसदी लोग रोज़ाना 15-20 रुपये के बीच की आमदनी पर गुज़ारा करते हैं। देश के करीब 60 प्रतिशत बच्चे खून की कमी से ग्रस्त हैं और 5 साल से कम उम्र के बच्चों के मौत के 50 फ़ीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार 63 फीसदी भारतीय बच्चे अक्सर भूखे सोते हैं और 60 फीसदी कुपोषण ग्रस्त हैं। दिल्ली में अन्धाधुन्ध "विकास" के साथ-साथ झुग्गियों या कच्ची बस्तियों में रहने वालों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी है और लगभग 70 लाख तक पहुँच चुकी है। इन बस्तियों में न तो साफ़ पीने का पानी है और न शौचालय और सीवर की उचित व्यवस्था है। जगह-जगह गन्दा पानी और कचरा इकट्ठा होकर सड़ता रहता है, और पहले से ही कमज़ोर लोगों के शरीर अनेक बीमारियों का शिकार होते रहते हैं।

आज से बीस साल पहले मनमोहन सिंह जब वित्त मंत्री थे तब उन्होंने दावा किया था कि नयी आर्थिक नीतियों के कारण जब समाज के शिखरों पर अमीरी आयेगी तो रिस-रिसकर उसका कुछ लाभ नीचे वालों तक भी पहुँच जायेगा। लेकिन वास्तव में इसका उलटा हो रहा है, अमीरी रिसकर नीचे तो नहीं आ रही है, बल्कि नीचे के तबकों को निचोड़कर, कंगाल बनाकर ऊपर के शिखरों पर जगमगाहट आयी है। अब बीस साल बाद आँकड़ों और जीवन की सच्चाइयों ने उनके झूठ को तार-तार करके रख दिया है।

● कविता

कारख़ाना इलाक़ों से

हमारी कमज़ोरी का ईनाम है—गालियाँ और मारपीट!

आज मज़दूर आपस में बँटकर इतने कमज़ोर हो गये हैं कि मालिक हमें बुरी तरह लूट-खसोट तो रहे ही हैं, बात-बेबात गालियाँ देने और मारपीट पर भी उतारू हो जाते हैं। मैं दिल्ली के बादली क्षेत्र की एक गैस रेग्युलेटर बनाने की फैक्ट्री में काम करता था। यहाँ कुल 32 मज़दूर थे। यहाँ के मालिक शिवप्रकाश को बात-बात पर मज़दूरों से गाली-गलौच और मारपीट की आदत पड़ चुकी है। जब काम की कमी होती है तब तो इसका दिमाग और भी ख़राब हो जाता है।

फैक्ट्री में बनने वाला रेग्युलेटर करीब 22 मशीनों से होकर तैयार होता है। इसके बाद कई काम हाथ से भी करने पड़ते हैं। सारे मज़दूर लगातार काम में लगे रहते हैं। पिछले दिनों आर्डर कम होने से बौखलाया मालिक दो दिनों से लगातार गालियाँ बक रहा था। एक पार्टी को दिखाने के लिए उसने सैम्पल माँगा। उसमें सबकुछ ठीक था। बस एक जगह रंग ज़रा-सा निकला हुआ था। मालिक ने कारीगर को दफ़्तर में बुलाया जहाँ माल लेने आयी पार्टी के भी 3-4 लोग बैठे थे। माँ-बहन की गालियाँ देते हुए उसने पूछा कि ये क्या है। कारीगर ने कहा बाबूजी, ज़रा सा पेण्ट छूटा है, अभी सही कर देता हूँ। इस पर मालिक ने पहले तो कान पकड़कर उसे बुरी तरह झिंझोड़ा और फिर दो थप्पड़ भी लगा दिये। फिर सारे मज़दूरों को गालियाँ बकने लगा। मज़दूरों ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि इसे निकालना ही था तो मारा क्यों। दो दिन से गालियाँ दे रहे हो, फिर भी हम चुप हैं। इसके जवाब में उसने अगले ही दिन 22 लोगों को बाहर कर दिया। हमें चुपचाप चले आना पड़ा।

हम कहते भी क्या? ये तो हमारी कमज़ोरी का ही ईनाम है। हम ही आपस में इतने बँटे हुए हैं कि अपमान का घूँट पीकर भी काम करते रहते हैं। मगर कोई किसी भाई के लिए खड़ा नहीं होता। यही हाल रहा तो एक दिन ऐसा भी आयेगा जब मालिक पुराने ज़माने के ज़मींदारों की तरह जूते और कोड़े मारकर काम करायेंगे और मज़दूर गुलामों की तरह सिर झुकाकर खटते और मरते रहेंगे। इसलिए, हमें एकजुट होकर लड़ना ही होगा।

● एक मज़दूर, बादली, दिल्ली

पर्यावरण संरक्षण का खेल

हमारा समाज विकास कर रहा है। मेहनत के दम पर हमने धरती की सूरत को बदल दिया है। जंगल काटकर खेत उगाये हैं, फ़ैक्टरियाँ लगायी हैं, धातुओं को धरती के गर्भ से निकाला है और विशाल पर्वतों को काटकर रास्ता बनाया है; सागरों की तलहटी से हमने ईंधन निकाला है और दैत्याकार यन्त्र खड़े किये हैं। मनुष्यता के जन्म से लेकर अब तक इन तमाम चीज़ों में ज़बर्दस्त तरक़्क़ी नज़र आती है। लेकिन यह भी सच है कि इस विकास के ज़्यादातर फल वर्गों में बँटे हुए समाज में एक बेहद छोटी आबादी तक सीमित रहे हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था के दौरान हुए विकास ने पिछले 200-300 सालों में प्रकृति को बुरी तरह से तबाह किया है। ओज़ोन परत में छेद (जिसके कारण सूर्य की हानिकारक किरणों का दुष्प्रभाव इंसानों पर पड़ता है), जानवरों और पौधों की कई प्रजातियों का विलुप्त होना, ज़हरीली गैसों, रसायनों के उत्सर्जन से जन्मी बीमारियाँ, सुनामी से हुई तबाही (क्योंकि पूँजीपतियों ने सुनामी के प्रभाव को रोकने वाले मैंग्रोव वनों को मुनाफ़े की ख़ातिर काट डाला था) और भोपाल गैस त्रासदी, चेर्नोबिल, नागासाकी, हिरोशिमा, थ्रीमाईल द्वीप में नाभिकीय तबाही, और हाल ही में फुकोशिमा जापान में हुई नाभिकीय दुर्घटना जैसे पूँजीवाद के पैदा किये हुए हादसों की सूची बेहद लम्बी है।

फिलहाल ग्लोबल वार्मिंग (धरती पर तापमान का बढ़ना) के ख़तरे को आज बड़ा ख़तरा माना जा रहा है जिसका एक कारण जीवाश्म ईंधनों (जैसे पेट्रोल, डीज़ल) की अन्धाधुन्ध खपत है। हालाँकि ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत आज मौजूद हैं, और नये वैकल्पिक स्रोत अनुसन्धान से खोजे जा सकते हैं। लेकिन इस काम में कोई भी पूँजीपति निवेश नहीं करेगा क्योंकि उसे तुरन्त फ़ायदा चाहिए। और न ही विशालकाय तेल कम्पनियाँ ऐसे किसी भी स्रोत का इस्तेमाल होने देंगी क्योंकि इससे वे तबाह हो जायेंगी।

बताने की ज़रूरत नहीं है कि पर्यावरण के विनाश का नुकसान सबसे ज़्यादा ग़रीब जनता को ही उठाना पड़ता है। 12-14 घण्टे रोज़ फ़ैक्टरियों में खटते हुए, मुर्गी के दड़बेनुमा और कूड़ेदानों से घिरी असुरक्षित झुग्गियों में रहते हुए, प्रदूषित भूजल का सीधे उपयोग करते हुए, या बाढ़ में कच्चे घरों के बह जाने से होने वाली बरबादी-तबाही को ग़रीब जनता ही झेलती है। अमीरों के पास बड़े-बड़े वातानुकूलित आफिस, वातानुकूलित घर, बाज़ार, स्कूल, गाड़ियाँ हैं, पानी साफ़ करने के यन्त्र हैं व अन्य सुविधाएँ हैं। सीधी बात यह कि इस पूँजीवादी समाज में तबाही ग़रीब जनता झेलती है और जो वह पैदा करती है उसका उपभोग जोंक रूपी मालिक वर्ग और उसके दलाल करते हैं। पर्यावरण को ख़तरा, जो अन्ततः मानवजाति के लिए ख़तरा है इस पूँजीवादी प्रणाली ने पैदा किया है।

लेकिन विडम्बना यह है कि पूँजीवाद के भक्षक ही पर्यावरण को बचाने के लिए बड़े-बड़े सम्मेलन करते हैं। वे "विनाशरहित विकास" की बात करते हैं, हालाँकि वे भी जानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के अराजक जंगलराज में यह असम्भव है। पर्यावरण पर मौजूद संकट पर जनता के गुस्से के दबाव के कारण मजबूरन पूँजीवादी विश्व के चौधरी हर वर्ष पर्यावरण सम्मेलन करते हैं। एक ऐसा ही सम्मेलन पिछली 16-19 जून को ब्राज़ील के रियो द जनेरो शहर में हुआ। कहने को तो इस पृथ्वी शिखर सम्मेलन का मकसद पृथ्वी के पर्यावरण पर मँडराते ख़तरों पर चर्चा करना व विनाशरहित विकास की तरफ़ दुनिया को ले जाना था। परन्तु यह नाकाम रहा। रियो सम्मेलन में भी यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गयी कि पूँजीवाद के रहते पर्यावरण को बचाना असम्भव है। साम्राज्यवादी देशों, "उभरती अर्थव्यवस्था" वाले देशों (जैसे चीन, ब्राज़ील, भारत, दक्षिण अफ़्रीका आदि) और अन्य देशों के अन्तरविरोध फिर सतह पर आ गये। विकसित देशों ने अपने औद्योगिक विकास के दौर में जीवाश्म ईंधनों और कोयला आदि का जमकर इस्तेमाल किया। वास्तव में, आज जो पर्यावरणीय संकट हमारे सामने है उसका कारण पश्चिमी पूँजीवादी देशों द्वारा किया गया अन्धाधुन्ध औद्योगिक विकास था। लेकिन अब विकसित देश यह चाहते हैं कि विकास के रास्ते पर जो देश देर से उतरे हैं वे पर्यावरण को नुक़सान न पहुँचाने वाले रास्ते अपनायें, हालाँकि विकसित देशों का अमीर वर्ग अभी भी पूरी दुनिया में सबसे ज़्यादा कार्बन उत्सर्जन कर रहा है। लेकिन समस्या यह है कि तेज़ी से मुनाफ़ा पैदा करने वाला औद्योगिक विकास नये वैकल्पिक और पर्यावरण अनुकूल साधनों से नहीं हो सकता। विकासशील और कम विकसित पूँजीवादी देशों का तर्क है कि अब जब औपनिवेशिक गुलामी से मुक्त होकर वे पूँजीवादी विकास के रास्ते पर आये हैं तो पश्चिमी देश उन पर बन्दिशें थोप रहे हैं और दोहरे मानक अपना रहे हैं। इन देशों का मालिक वर्ग अब वैश्विक पैमाने पर मुनाफ़े की दौड़ में पिछड़ना नहीं चाहता। इसलिए ऐसे सभी विकासशील देशों के पूँजीपति वर्ग एकजुट होकर साम्राज्यवादी देशों के दबाव का प्रतिरोध कर रहे हैं। इसलिए यह सवाल हल ही नहीं हो सकता कि पर्यावरण को बचाने में कौन-सा देश पहल करेगा। कम-से-कम विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के रहते यह सम्भव नहीं है।

इसके अलावा, वैश्विक मन्दी के इस कठिन दौर में सभी देशों की प्राथमिकता पर्यावरण नहीं है। अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा ने तो इस सम्मेलन में समय देना भी ज़रूरी नहीं समझा। सम्मेलन के नतीजा दस्तावेज 'भविष्य जो हमें चाहिए' आज से 20 साल पहले हुए रियो सम्मेलन का दुहराव भर था और छोटे बच्चों को पढ़ाये जाने वाले शिष्टाचार जैसे उपदेशों से भरा था। इसमें पर्यावरण को बचाने सम्बन्धी कोई ठोस कार्यक्रम नहीं था। इसमें ग़रीबी, हरित आर्थिकी, विनाश-रहित विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा लगभग हर मुद्दे पर भावनात्मक दलीलें दी गयी हैं। अमरीका और अन्य विकसित देशों ने हरित आर्थिकी का मतलब सिर्फ़ अपने देश के पूँजीपतियों को आर्थिक मदद देने तक सीमित रखा, विकसित देशों द्वारा पर्यावरण सम्बन्धी कोई सुधारात्मक कार्रवाई और अन्य देशों के विकास के लिए मदद ग़ायब थी। इसी कारण हमारे देश के प्रधानमन्त्री ने विकसित देशों के व्यवहार पर आपत्ति दर्ज की क्योंकि वे उनके देश को किसी तरह की मदद नहीं दे रहे थे। साफ़ है कि आर्थिक मन्दी के भीषण दौर से गुज़र रहे पूँजीवाद के लिए अभी "पर्यावरण-पर्यावरण" खेल में समय खपाना बिलकुल नामुमकिन है। पर्यावरण संरक्षण और शिखर सम्मेलनों में साम्राज्यवादी देशों के आपसी अन्तरविरोध ही उभरकर आते हैं। वस्तुतः रियो सम्मेलन का यही हश्र होना था। आश्चर्य की बात तो तब होगी जब वे इस से अलग आचरण करते। पूँजीवादी व्यवस्था का तर्क ही मानवीय श्रम और धरती की लूट पर आधारित है। पर्यावरण संरक्षण इस तर्क के विरुद्ध जाता है। तो आख़िर पर्यावरण को विनाश से बचाने का रास्ता क्या है? पर्यावरण को बचाने के लिए हमें उस प्रक्रिया को रोकना होगा जो इस तबाही का मूल स्रोत है। यानी, दुनिया से पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को उखाड़ फेंकना होगा और एक मानवकेन्द्रित व्यवस्था का निर्माण करना होगा।

● सनी

> "जो धरती हमारी एकमात्र और सबकुछ है, जो हमारे अस्तित्व की पहली शर्त है – उसी धरती को फेरी लगा कर बेचने की वस्तु बना देना ही वह आख़िरी क़दम था जिसने स्वयं व्यक्ति को ही फेरी लगाकर बेचे जाने की वस्तु बना दिया।"
>
> – फ्रेडरिक एंगेल्स

गरीब देश के अमीर भगवान

आज़ादी के बाद पहले प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने उद्योगों को आधुनिक मन्दिर कहा था लेकिन आज छह दशक बीतने के बाद लगता है कि मन्दिर आधुनिक उद्योग बन चुके हैं क्योंकि इन मन्दिरों में आने वाला चढ़ावा भारत के बजट के कुल योजना व्यय के बराबर है। अकेले 10 सबसे ज़्यादा धनी मन्दिरों की सम्पत्ति देश के मध्यम दर्जे के 500 उद्योगपतियों से ज़्यादा है। केवल सोने की बात की जाये तो 100 प्रमुख मन्दिरों के पास करीब 3600 अरब रुपये का सोना पड़ा है। शायद इतना सोना रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के पास भी न हो। मन्दिरों के इस फलते-फूलते व्यापार पर मन्दी का भी कोई असर नहीं पड़ता है! उल्टा आज जब भारतीय अर्थव्यस्था संकट के दलदल में फँसती जा रही है तो मन्दिरों के सालाना चढ़ावे की रक़म लगातार बढ़ती जा रही है। ज़ाहिरा तौर पर इसके पीछे मीडिया और प्रचार तन्त्र का भी योगदान है जो दूर-दराज़ तक से "श्रद्धालुओं" को खींच लाने के लिए विशेष यात्रा पैकेज देते रहते हैं। जहाँ देश की 80 फ़ीसदी जनता को शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पानी जैसी बुनियादी सुविधाएँ भी मयस्सर नहीं हैं वहीं मन्दिरों के ट्रस्ट और बाबाओं की कम्पनियाँ अकूत सम्पत्ति पर कुण्डली मारे बैठी हैं। सिर्फ़ कुछ प्रमुख मन्दिरों की कमाई देखें तो इस ग़रीब देश के अमीर भगवानों की लीला का खुलासा हो जायेगा।

तिरुपति बालाजी

भारत के अमीर मन्दिरों की लिस्ट में तिरुपति बालाजी नम्बर एक पर है। इस मन्दिर का ख़ज़ाना पुराने ज़माने के राजा-महराजाओं को भी मात देने वाला है क्योंकि बालाजी के ख़ज़ाने में आठ टन तो सिर्फ़ आभूषण हैं! अलग-अलग बैंकों में मन्दिर का 300 किलो सोना जमा है और मन्दिर के पास 1000 करोड़ रुपये के फ़िक्स्ड डिपोज़िट हैं। एक अनुमान के मुताबिक़ तिरुपति बालाजी मन्दिर में हर दिन लगभग 70 हज़ार श्रद्धालु आते हैं जिस कारण हर महीने मन्दिर को सिर्फ़ चढ़ावे से ही नौ करोड़ रुपये से भी ज़्यादा की आमदनी होती है और इसकी सालाना आय क़रीब 650 करोड़ है। इसलिए बालाजी दुनिया के सबसे दौलतमन्द भगवान कहे जाते हैं। जनता के दुख-दर्द दूर कराने वाले भगवान बालाजी की सम्पत्ति की रक्षा के लिए 52 हजार करोड़ रुपये का बीमा कराया गया है। इसके अलावा बालाजी के विशेष भक्तों की भी कमी नहीं हैं जो समय-समय पर बालाजी को मूल्यवान चढ़ावे अर्पण करते रहते हैं। इन्हीं भक्तों की सूची में ग़ैरक़ानूनी खनन के सबसे बड़े सरगना रेड्डी बन्धु भी हैं जिन्होंने खनन कारोबार के 4000 करोड़ रुपये के मुनाफ़े में से 45 करोड़ रुपये का हीरों से जड़ा मुकुट चढ़ाया ताकि उनके काले धन्धों पर भगवान की कृपा बनी रहे।

वैष्णो देवी मन्दिर

तिरुपति बालाजी के बाद देश में सबसे ज़्यादा लोग वैष्णो देवी के मन्दिर में आते हैं। 500 करोड़ रुपये की सालाना आय के साथ वैष्णो देवी मन्दिर भी देश के अमीर मन्दिरों में शामिल है। मन्दिर के सीईओ आरके गोयल के अनुसार हर गुज़रते दिन के साथ मन्दिर की आय बढ़ती जा रही है।

साईं बाबा का मन्दिर

शिरडी स्थित साईं बाबा का मन्दिर महाराष्ट्र के सबसे अमीर मन्दिरों में से एक है। सरकारी जानकरी के मुताबिक़ इस प्रसिद्ध मन्दिर के पास 32 करोड़ रुपये के आभूषण हैं और ट्रस्ट के पास 450 करोड़ रुपये की सम्पत्ति है। पिछले कुछ साल में साईं बाबा की बढ़ती लोकप्रियता के कारण इसकी दैनिक आय 60 लाख रुपये से ऊपर है और सालाना आय 210 करोड़ रुपये को पार कर चुकी है।

पद्मनाथ मन्दिर

पिछले साल तिरुवनन्तपुरम के पद्मनाथ मन्दिर के गर्भगृहों से मिली बेशुमार दौलत के बाद यह बालाजी मन्दिर को पीछे छोड़ते हुए देश का सबसे अमीर मन्दिर बन गया है। गुप्त गर्भगृहों में मिला ख़ज़ाना खरबों रुपये का है जिसमें सिर्फ़ सोने की मूर्तियों, हीरे-जवाहरत, आभूषण और सोने-चाँदी के सिक्कों का मूल्य ही पाँच लाख करोड़ रुपये है। अभी तक मन्दिर के दूसरे तहखाने खुलने बाकी हैं जिनसे अभी और बेशुमार दौलत निकल सकती है।

मन्दिरों में आने वाले चढ़ावों से लेकर मन्दिरों के ट्रस्टों और महन्तों की सम्पत्ति स्पष्ट कर देती है कि ये मन्दिर भारी मुनाफ़ा कमाने वाले किसी उद्योग से कम नहीं हैं। वैसे तो धर्म हमेशा से ही शासक वर्ग के हाथ में एक महत्वपूर्ण औज़ार रहा है लेकिन पूँजीवाद ने धर्म का न सिर्फ़ उपयोग किया बल्कि उसे एक पूँजीवादी उपक्रम बना दिया है। पूँजीवादी धर्म आज सिर्फ़ जनता की चेतना को कुन्द करने का ही काम नहीं करता है बल्कि भारी मुनाफ़े का धन्धा बन गया है। मज़े की बात है कि हर पूँजीवादी उद्योग की तरह धर्म के धन्धे में भी गलाकाटू होड़ है। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद अब तक की सबसे गतिमान उत्पादन पद्धति है और यह अपनी छवि के अनुरूप एक विश्व रचना कर डालता है। पूँजीवाद ने धर्म के साथ ऐसा ही किया है। इसने इसे पूँजीवादी धर्म में इस क़दर तब्दील कर दिया है कि धर्म स्वयं एक धन्धा बन गया है, और इससे अलग और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है।

● अजय

ज्ञान-विज्ञान

ब्रह्माण्ड के रहस्यों को सुलझाने की दिशा में बढ़ा इन्सान का एक और क़दम

मनुष्य हमेशा ही ब्रह्माण्ड के रहस्यों को समझने की कोशिश करता रहा है। हज़ारों साल पहले जब मनुष्य जंगलों में रहता था तब उसे प्रकृति के रहस्य जादू-टोने की तरह लगते थे और वह मौसम बदलने, बिजली गिरने, जीवन और मृत्यु जैसी प्राकृतिक घटनाओं को अदृश्य और जादुई शक्तियों के कारनामे के रूप में देखता था। जिन चीज़ों को वह समझ नहीं पाता था और जिनसे उसे डर लगता था उनकी वह पूजा करने लगता था। बाद में मनुष्यता जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान की राह पर आगे बढ़ती गयी, वैसे-वैसे कुदरत की किताब के पन्ने उसके आगे खुलते चले गये और अपने आसपास होने वाली घटनाओं के कारणों को मनुष्य समझने लगा। ख़ासतौर पर पिछले 200-300 वर्ष के दौरान तो विज्ञान का ज़बर्दस्त विकास हुआ है और मनुष्य अपनी धरती और पूरे ब्रह्माण्ड के बारे में अधिकाधिक ज्ञान हासिल करता गया है। प्रकृति के इन रहस्यों की समझदारी से मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाने वाले बहुत-से आविष्कार भी हुए और साथ ही समाज व्यवस्था को ज़्यादा न्यायपूर्ण बनाने के संघर्ष में भी इस ज्ञान ने मनुष्य को राह दिखायी। इसीलिए शासक वर्ग हमेशा ही यह कोशिश करते रहे हैं कि आम लोगों तक विज्ञान की समझदारी और जीवन को देखने की वैज्ञानिक दृष्टि न पहुँच सके।

पिछली चार जुलाई को विज्ञान की अनवरत यात्रा में एक यादगार दिन था। इस दिन वैज्ञानिकों ने घोषणा की कि उन्होंने 'हिग्स बोसोन' नाम के एक ऐसे सूक्ष्म कण को ढूँढ़ निकाला है जिसकी खोज में पिछले कई दशक से वैज्ञानिक लगे हुए थे। उन्होंने यह भी घोषणा की कि इस खोज से ब्रह्माण्ड के बहुत से रहस्यों पर से पर्दा उठने का रास्ता खुल जायेगा। अब इस बात को समझा जा सकेगा कि यह पूरा ब्रह्माण्ड, जिसका एक बहुत छोटा-सा हिस्सा हमारी धरती और सौरमण्डल है, पैदा कैसे हुआ।

आख़िर क्या है यह 'हिग्स बोसोन'?

भारत के कई अख़बारों और टीवी चैनलों ने इस घटना की रिपोर्टिंग इस ढंग से की मानो यह कोई वैज्ञानिक खोज नहीं बल्कि दैवी चमत्कार हो। जिसे इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में विज्ञान की ख़बरों के लिए कभी जगह नहीं होती थी, उस पर पूरे दिन यह ख़बर छायी रही और अख़बारों के पहले पन्ने पर पहली ख़बर के रूप में इसे छापा गया। ज़्यादातर ने इसे "ईश्वरीय कण" की खोज घोषित कर दिया। कुछ ने तो यह दावा भी कर दिया कि इस खोज के साथ ही मनुष्य ईश्वर के बिल्कुल करीब पहुँच गया है! मगर इस 'हिग्स बोसोन' की असलियत क्या है? आख़िर ये है क्या बला?

वास्तव में इस कण का ईश्वर से कोई लेना-देना नहीं है। बोलचाल की भाषा में अंग्रेज़ी में इसे 'गॉड पार्टिकल' कहा गया था क्योंकि इसका पता ही नहीं चल रहा था। यह कोई सटीक वैज्ञानिक शब्द नहीं है। ज़्यादातर वैज्ञानिक तो इस नाम का इस्तेमाल करने के विरोधी हैं क्योंकि इससे लोगों में गलत सन्देश जाता है और भ्रम पैदा होता है। लेकिन भारत में मीडिया इसी शब्द को क्यों ले उड़ा इसे समझना मुश्किल नहीं है। जो मीडिया लोगों के बीच वैज्ञानिक चेतना और समझदारी का प्रचार-प्रसार करने के बजाय दिनो-रात पोंगापन्थ और अन्धविश्वास फैलाने में लगा रहता है उससे कुछ और उम्मीद करना ही बेकार है।

'हिग्स बोसोन' को वह कण माना जाता है जिसके कारण ब्रह्माण्ड के तमाम कणों में आकार और भार होता है। जैसाकि हम जानते हैं, हमारा ब्रह्माण्ड, चाँद-सूरज-सितारे, आकाशगंगाएँ, सौरमण्डल, यह धरती और इस पर बसने वाले जीव, यह सबकुछ सूक्ष्म कणों से मिलकर बना है। पहले माना जाता था कि पदार्थ का सबसे छोटा कण परमाणु है लेकिन फिर पता चला कि इसके भीतर इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और क्वार्क नाम के और भी छोटे-छोटे कण होते हैं। ये कितने छोटे होते हैं इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाइये कि एक महीन सुई की नोक पर लाखों परमाणु समा सकते हैं। 1964 में पीटर हिग्स नाम के वैज्ञानिक ने बताया कि इन कणों को आकार और भार देने वाला एक और कण है जिसे उन्हीं के नाम पर 'हिग्स बोसोन' कहा गया। बोसोन कणों का यह नाम प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सत्येन्द्रनाथ बोस के नाम पर रखा गया जिन्होंने 1920 के दशक में महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन के साथ काम किया था और बहुत महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक खोजें की थीं। मगर 'हिग्स बोसोन' का पता चलने से दुनिया के बारे में हमारी समझ बेहतर कैसे होगी, इस बात को समझने के लिए पहले कुछ और बातों को जान लेना ज़रूरी है।

ब्रह्माण्ड को जन्म देने वाला 'महाविस्फोट'

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बारे में तरह-तरह की बातें की जाती हैं। ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि की रचना की। पहले दिन उसने रात और दिन बनाये, दूसरे दिन धरती और आकाश, तीसरे दिन पेड़-पौधे, चौथे दिन चाँद-सूरज और तारे, पाँचवे दिन तमाम पशु और पक्षी बनाये और फिर छठे दिन उसने मनुष्य की रचना की। इतना काम कर लेने के बाद थककर सातवें दिन ईश्वर ने आराम किया और इसीलिए सप्ताह के सातवें दिन छुट्टी का दिन माना गया। हिन्दू धर्म में बताया जाता है कि ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। ख़ुद ब्रह्मा का जन्म विष्णु की नाभि से हुआ था। कई अन्य धर्मों में सृष्टि की उत्पत्ति की अलग-अलग कहानियाँ मिलती हैं। लेकिन वैज्ञानिकों ने अब यह साबित कर दिया है कि ब्रह्माण्ड की शुरुआत एक 'महाविस्फोट' (बिग बैंग) से हुई थी। लगभग 14 अरब वर्ष पहले एक बिन्दु से ब्रह्माण्ड ने फैलना शुरू किया। इसे ही महाविस्फोट कहा जाता है। विस्फोट के समय पैदा हुई ऊर्जा प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और इलेक्ट्रॉन सहित विभिन्न सूक्ष्म कणों में तब्दील हो गयी। महाविस्फोट के कुछ ही मिनट बाद प्रोटॉन और न्यूट्रॉन के मिलने से पहलेपहल परमाणु नाभिक अस्तित्व में आये लेकिन उनके साथ इलेक्ट्रानों के जुड़कर परमाणु बनने में हज़ारों वर्ष का समय लग गया। सबसे पहले बनने वाला तत्व था हाइड्रोजन गैस जिसमें हीलियम और लिथियम की भी कुछ मात्रा थी। इन गैसों से बने विराटकाय बादल अन्तरिक्ष में घूमते रहते थे जो गुरुत्व बल के कारण घने हो-होकर लाखों वर्ष के दौरान तारे और आकाशगंगाएँ बन गये। हमारी धरती भी पहले आग का एक जलता हुआ गोला थी जो धीरे-धीरे करोड़ों वर्ष के दौरान ठण्डी हुई और कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण यहाँ पर पानी और फिर जीवन की उत्पत्ति हुई।

बिग बैंग सिद्धान्त को अच्छी तरह जाँचा-परखा गया है और दुनियाभर के वैज्ञानिक अब सृष्टि की उत्पत्ति के इसी सिद्धान्त को सही मानते हैं। कई लोग पूछ सकते हैं कि महाविस्फोट के पहले क्या था? इसका सीधा जवाब होगा, कुछ नहीं। वैसे यह सवाल ही अपनेआप में ग़लत है क्योंकि जिस क्षण महाविस्फोट हुआ वास्तव में उसी क्षण से क्या, कब, कहाँ, पहले, बाद में जैसी बातों की शुरुआत हुई। मनुष्य की चेतना काल और दिक् के आयामों से बाहर जाकर कुछ सोच ही नहीं सकती और ये आयाम भी उस क्षण पैदा हुए थे। पदार्थ, ऊर्जा, समय और स्थान की शुरुआत उसी बिन्दु से हुई थी। मगर इस विषय पर अभी इतना ही, वरना बात बहक जायेगी। इस पर हम आगे कभी अलग से चर्चा करेंगे।

आप पूछ सकते हैं, यह सारी कायनात जिस पदार्थ से बनी है वह किन बुनियादी कणों से मिलकर बनता है? उसका सबसे छोटा-से-छोटा रूप क्या है जिसे आगे और छोटे कणों में नहीं तोड़ा जा सकता? इन्सान बहुत पहले से इसके बारे में माथापच्ची करता आया है। लगभग दो हज़ार वर्ष पहले एक यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस ने कहा था कि हर चीज़ बिल्कुल छोटी-छोटी इकाइयों से मिलकर बनी है। उसने इस कण को 'ऐटम' का नाम दिया। भारत में कणाद मुनि ने भी ईसा से दो शताब्दी पहले ही इस बात की चर्चा की थी कि हर चीज़ 'अणु' नाम के छोटे-छोटे कणों से बनी है जिन्हें और छोटे कणों में बाँटा नहीं जा सकता। बाद में वैज्ञानिक भी इसी नतीजे पर पहुँचे। बीसवीं सदी में वैज्ञानिकों ने ऐटम यानी परमाणु के भीतर भी घुसकर इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन की खोज कर ली। बाद में वैज्ञानिकों ने न्यूट्रॉन और प्रोटॉन के भीतर क्वार्क नामक कणों का पता लगाया। 1970 के दशक से वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड के जिस सिद्धान्त को मानते रहे हैं उसे 'स्टैण्डर्ड मॉडल' कहा जाता है। इसके अनुसार, प्रकृति में दो तरह के बुनियादी कण हैं: 12 सूक्ष्म कण जिन्हें फर्मियॉन कहते हैं, जिनसे पदार्थ बनता है। इनमें इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और क्वार्क होते हैं। दूसरी तरह के कण हैं चार बोसोन जो फर्मियॉनों के बीच अलग-अलग तरह के बल का आदान-प्रदान करते हैं। अलग-अलग कणों के मिलने से कोई पत्थर, या तारा, या मानव शरीर, या फूल बनेगा या वे मिलेंगे ही नहीं, यह प्रकृति की चार मूल शक्तियों – विद्युतचुम्बकीय, मज़बूत बल, कमज़ोर बल और गुरुत्वाकर्षण पर निर्भर करता है। गुरुत्वाकर्षण को छोड़कर 'स्टैण्डर्ड मॉडल' की अन्य सभी बातों को वैज्ञानिक प्रमाण सहित साबित कर चुके हैं। लेकिन एक गुत्थी बनी हुई थी, कि इन सभी कणों में भार कहाँ से पैदा होता है। 'हिग्स बोसोन' की परिकल्पना सामने आने के बाद सिद्धान्त रूप में इस बात का जवाब भी मिल गया था। लेकिन इस कण को अब तक न किसी ने देखा था और न ही इसके होने का कोई सबूत मिला था। इसकी खोज के लिए दुनियाभर में प्रयोग जारी थे।

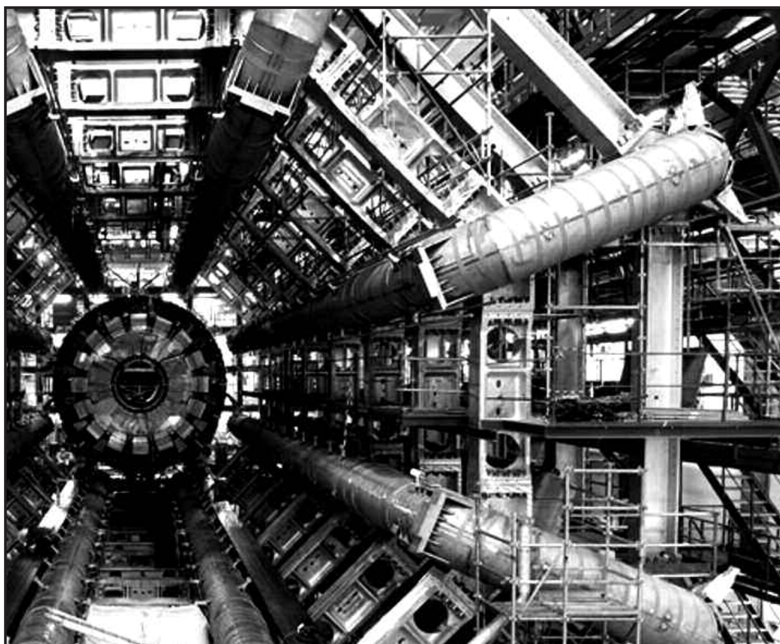

सुरंग के भीतर लार्ज हेड्रॉन कोलाइडर मशीन का एक हिस्सा

लापता कण की तलाश में सोलह वर्ष से जारी महाप्रयोग

यूरोप के बीस देशों ने मिलकर 1996 में 'हिग्स बोसोन' की तलाश के लिए एक बहुत बड़े प्रयोग पर काम शुरू किया। यूरोपीय नाभिकीय अनुसन्धान संगठन (सर्न) की अगुवाई में फ्रांस और स्विट्ज़रलैण्ड की सीमा पर ज़मीन से करीब सौ मीटर नीचे लगभग 27 किलोमीटर लम्बी गोलाकार सुरंग बनायी गयी। करीब 500 अरब रुपये की लागत से इसमें 'लार्ज हैड्रॉन कोलाइडर' (एल.एच.सी.) नाम की एक विराटकाय वैज्ञानिक मशीन बनायी गयी है। इसे पार्टिकल एक्सलरेटर यानी कणों की रफ़्तार तेज़ करने वाली मशीन कहा जाता है। इसका इस्तेमाल करके वैज्ञानिकों ने उन सूक्ष्म कणों का अध्ययन करना शुरू किया जिनसे मिलकर सृष्टि की हर चीज़ बनती है। इसके ज़रिए वैज्ञानिक ठीक उसी तरह की परिस्थितियाँ पैदा करना चाहते थे जैसी कि महाविस्फोट के समय हुई थीं। उस महामशीन में अरबों सूक्ष्म कण एक-दूसरे से उल्टी दिशा में ज़बर्दस्त रफ़्तार से चलते हुए आमने-सामने से टकराये जाते हैं जिससे कि ज़बर्दस्त ऊर्जा पैदा होती है। प्रकृति में प्रकाश की गति सबसे तेज़ यानी लगभग तीन लाख किलोमीटर प्रति सेकण्ड होती है। इस मशीन में वैज्ञानिकों ने प्रकाश की गति की 99.99 प्रतिशत रफ़्तार से कणों को चलाकर एक-दूसरे से टकराने में कामयाबी हासिल की। इतनी प्रचण्ड गति से हुई टकराहट के कारण कुछ ऐसे कण पैदा होते हैं जो केवल बहुत अधिक ऊर्जा पर ही अस्तित्व में आते हैं। विशेष डिटेक्टर यंत्रों

(पेज 7 पर जारी)

लार्ज हेड्रॉन कोलाइडर मशीन में हो रहे प्रयोग और पदार्थ के बुनियादी कणों के बारे में कुछ जानकारियाँ

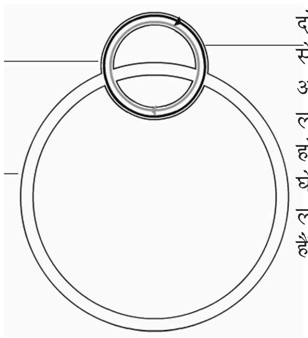

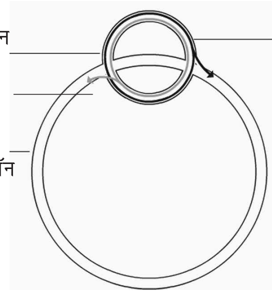

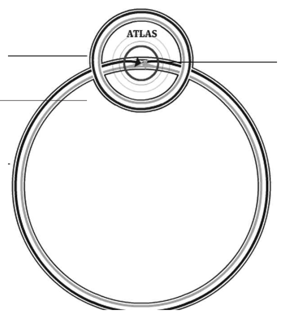

पदार्थ के भीतर क्या है?

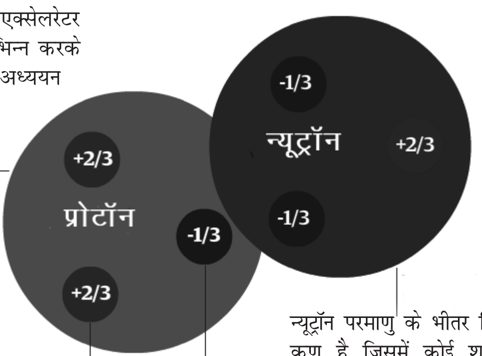

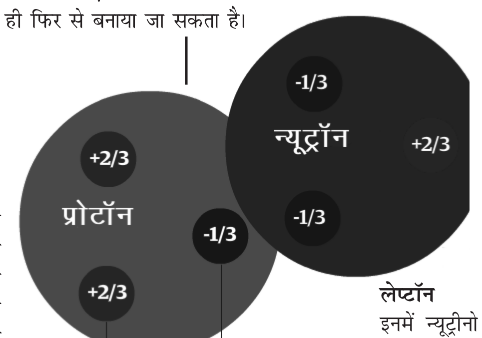

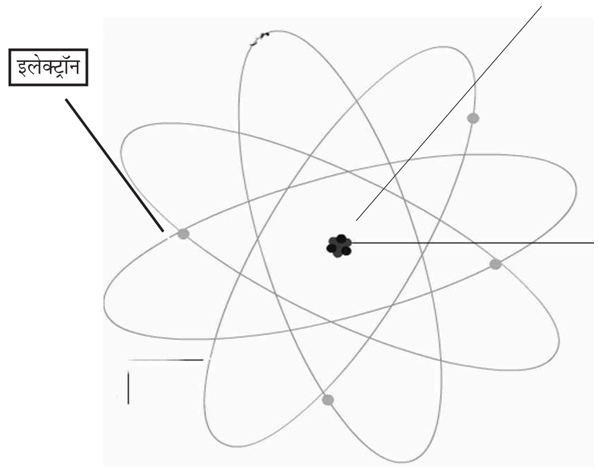

लेप्टॉन
इनमें न्यूट्रीनो नामक बहुत छोटे कण होते हैं जिनमें कोई चार्ज नहीं होता और सम्भवतः द्रव्यमान भी नहीं होता, जबकि इलेक्ट्रॉन में -1 का निगेटिव चार्ज होता है और इन्हीं के कारण विद्युत और रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। लेप्टॉन के अन्य रूप, जैसे मुऑन एक्सेलरेटर में होने वाली टक्करों में पैदा होते हैं।

एल.एच.सी. में जिन प्रोटॉनों की टक्कर करायी जाती है वे बेहद छोटे होते हैं। इसके आकार का अन्दाज़ा इस बात से लगाइये कि अगर एक प्रोटॉन को टेनिस की बॉल जितना बड़ा किया जाये, तो उसके भी भीतर के क्वार्क का आकार 0.1 मिमी से कम होगा।

(पेज 6 से आगे)

द्वारा इन कणों का अध्ययन किया जाता है। दुनिया के करीब 110 देशों के वैज्ञानिकों की टीमें इस अध्ययन में लगी हुई हैं। इन विस्फोटों से पैदा होने वाले आँकड़ों का अम्बार कितना अधिक है इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि एल.एच.सी. मशीन में हर एक सेकण्ड में लगभग 60 करोड़ टक्करें होती हैं।

वर्ष 2008 से वैज्ञानिक लगातार इन प्रयोगों में जुटे हुए थे लेकिन उन्हें सफलता मिलने की सम्भावना कम ही लग रही थी। मगर इस वर्ष अप्रैल से लेकर 18 जून तक लार्ज हैड्रॉन कोलाइडर मशीन में हुए प्रयोगों के अध्ययन से ऐसा लगने लगा था कि वैज्ञानिक आख़िर उस छुपे रुस्तम के आसपास पहुँच गये हैं। 4 जुलाई को यह घोषणा की गयी कि आख़िरकार हिग्स बोसोन जैसे कण की मौजूदगी का पता चल गया है। लेकिन अभी इसे पूरी तरह साबित करने के लिए वैज्ञानिकों को कई महीने तक काम करना पड़ेगा। अगर यह वही हिग्स बोसोन है जिसकी तलाश थी, तो ब्रह्माण्ड के बारे में विज्ञान अब तक जो कहता आया है, उसकी पुष्टि हो जायेगी। और अगर पता चलता है कि यह उससे मिलता-जुलता कोई नया कण है तो भी बहुत बड़ी कामयाबी होगी। इससे फिर बहुत-सी नयी और उत्तेजक वैज्ञानिक खोजों के लिए रास्ता खुल जायेगा। यह कुछ ऐसा ही होगा जैसे आपको थोड़ी दूरी पर एक जाना-पहचाना चेहरा नज़र आता है, और आप सोचते हैं कि ये आपका वही गहरा दोस्त है जिसकी आपको काफ़ी समय से तलाश थी। लेकिन पास जाने पर आप देखते हैं कि वह तो आपके दोस्त का जुड़वाँ भाई है जिसके साथ मिलकर आप फिर नयी-नयी यात्राओं पर निकल सकते हैं।

इस खोज से मनुष्यता को क्या मिलेगा?

पहली बात यह कि इस खोज से क़ुदरत को समझने का इन्सान का सफ़र ख़त्म नहीं होता, बल्कि यहाँ से नयी शुरुआत होगी। इस विराट ब्रह्माण्ड में अभी बहुत कुछ खोजने और जानने को पड़ा हुआ है। ब्रह्माण्ड में एक चींटी से लेकर करोड़ों मील दूर स्थित नक्षत्र तक, जो कुछ भी हम देखते हैं वह सामान्य कणों से मिलकर बना है। इन सब कणों को एक साथ पदार्थ (मैटर) कहते हैं, जिससे कि ब्रह्माण्ड का 4 प्रतिशत बना हुआ है। माना जाता है कि बाकी 96 प्रतिशत हिस्सा डार्क मैटर और डार्क एनर्जी से मिलकर बना है, लेकिन उनका पता लगाना और अध्ययन करना वैज्ञानिकों के लिए अब तक एक चुनौती बना हुआ है। इस प्रयोग से आगे चलकर ब्रह्माण्ड के इस अनजान अँधेरे हिस्से पर भी रोशनी पड़ सकती है।

दूसरे, यह नहीं भूलना चाहिए कि बीसवीं सदी की शुरुआत में जब महान वैज्ञानिक अर्नेस्ट रदरफ़ोर्ड ने परमाणु की बुनियादी संरचना का पता लगाया था कि इसमें एक नाभिक के चारों ओर चक्कर लगाते हुए इलेक्ट्रॉन होते हैं, तो किसी ने भी नहीं सोचा था कि इस खोज से कैसे परिणाम निकलेंगे। जेम्स वॉटसन और फ्रांसिस क्रिक नाम के दो वैज्ञानिकों ने जब डीएनए की संरचना की खोज की थी तो भी ऐसा ही हुआ था। लेकिन आज हम जानते हैं कि परमाणु विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के लिए इन दो खोजों का कितना बड़ा महत्व था। निश्चित तौर पर, हिग्स बोसोन जैसे कणों की खोज और सर्न के महाप्रयोग से भी कई व्यावहारिक लाभ सामने आ सकते हैं। लेकिन **यहीं पर एक बड़ा सवाल हमारे सामने आकर खड़ा हो जाता है।**

आज विज्ञान और तकनोलॉजी आज़ाद नहीं हैं। उनसे होने वाली खोजों का किसके फ़ायदे के लिए और क्या इस्तेमाल किया जाये, यह फ़ैसला समूची इन्सानियत के हाथों में नहीं है। विज्ञान और तकनोलॉजी भी उन्हीं वर्गों के हाथों बन्धक हैं जिन वर्गों का उत्पादन के सारे साधनों पर कब्ज़ा है। जिस तरह कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूर मुनाफ़ा पैदा करने के लिए पूँजीपतियों के गुलाम बना दिये गये हैं, उसी तरह बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में काम करने वाले वैज्ञानिक अपने को आज़ाद भले ही समझते हों, पर हक़ीक़त में वे भी पूँजी के चाकर ही बनकर रह गये हैं। यही कारण है कि विज्ञान की शानदार तरक्की का लाभ दुनिया के 90 प्रतिशत लोगों तक पहुँचता ही नहीं। आज इन्सान चाँद और मंगल ग्रह पर पानी की खोज कर रहा है लेकिन धरती के बहुत बड़े हिस्से में करोड़ों लोग आज भी गन्दा पीने को मजबूर हैं। यही वजह है कि विज्ञान और तकनीक की हर नयी प्रगति करोड़ों मेहनतकशों की ज़िन्दगी को आसान बनाने के बजाय उनके लिए और अधिक शोषण, बेरोज़गारी और बदहाली लेकर आती है। विज्ञान को समस्त मानवता की सेवा में लगाने के लिए ज़रूरी है कि इस दुनिया को उलट-पलट दिया जाये। लूट और मुनाफ़े पर टिकी समाज व्यवस्था का नाश करके एक ऐसी व्यवस्था बनायी जाये जो सबके लिए इंसाफ़, भाईचारे और बराबरी पर क़ायम हो। इसके लिए भी हमें विज्ञान को जानना और समझना होगा। दुनिया को चलाने वाले नियमों को जानना होगा और समाज को चलाने वाले नियमों को भी समझना होगा। हमें सवाल उठाना सीखना होगा और उन सवालों के जवाब ढूँढ़ने की हिम्मत जुटानी होगी।

– सत्यम

पेरिस कम्यून : पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा (पाँचवी किश्त)

आज भारत ही नहीं, पूरी दुनिया के मज़दूर पूँजी की लुटेरी ताक़त के तेज़ होते हमलों का सामना कर रहे हैं, और मज़दूर आन्दोलन बिखराब, ठहराव और हताशा का शिकार है। ऐसे में इतिहास के पन्ने पलटकर मज़दूर वर्ग के गौरवशाली संघर्षो से सीखने और उनसे प्रेरणा लेने की अहमियत बहुत बढ़ जाती है। आज से 141 वर्ष पहले, 18 मार्च 1871 को फ़्रांस की राजधानी पेरिस में पहली बार मज़दूरों ने अपनी हुकूमत क़ायम की। इसे पेरिस कम्यून कहा गया। उन्होंने शोषकों की फैलायी इस सोच को ध्वस्त कर दिया कि मज़दूर राज-काज नहीं चला सकते। पेरिस के जाँबाज़ मज़दूरों ने न सिर्फ़ पूँजीवादी हुकूमत की चलती चक्की को उलटकर तोड़ डाला, बल्कि 72 दिनों के शासन के दौरान आने वाले दिनों का एक छोटा-सा मॉडल भी दुनिया के सामने पेश कर दिया कि समाजवादी समाज में भेदभाव, ग़ैर-बराबरी और शोषण को किस तरह ख़त्म किया जायेगा। आगे चलकर 1917 की रूसी मज़दूर क्रान्ति ने इसी कड़ी को आगे बढ़ाया।

मज़दूर वर्ग के इस साहसिक कारनामे से फ़्रांस ही नहीं, सारी दुनिया के पूँजीपतियों के कलेजे काँप उठे। उन्होंने मज़दूरों के इस पहले राज्य का गला घोंट देने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया और आख़िरकार मज़दूरों के कम्यून को उन्होंने ख़ून की नदियों में डुबो दिया। लेकिन कम्यून के सिद्धान्त अमर हो गये। पेरिस कम्यून की हार से भी दुनिया के मज़दूर वर्ग ने बेशक़ीमती सबक़ सीखे। पेरिस के मज़दूरों की क़ुर्बानी मज़दूर वर्ग को याद दिलाती रहती है कि पूँजीवाद को मटियामेट किये बिना उसकी मुक्ति नहीं हो सकती।

'मज़दूर बिगुल' के मार्च 2012 अंक से हमने दुनिया के पहले मज़दूर राज की सचित्र कथा की शुरुआत की है, जो अगले कई अंकों में जारी रहेगी।

इस श्रृंखला की शुरुआती कुछ किश्तों में हमने पेरिस कम्यून की पृष्ठभूमि के तौर पर जाना कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ लड़ने की शुरुआत मज़दूरों ने किस तरह की और किस तरह चार्टिस्ट आन्दोलन और 1848 की क्रान्तियों से गुज़रते हुए मज़दूर वर्ग की चेतना और संगठनबद्धता आगे बढ़ती गयी। हमने मज़दूरों की मुक्ति की वैज्ञानिक विचारधारा के विकास और पहले अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर संगठन के बारे में जाना। पिछले अंक में हमने जाना कि कम्यून की स्थापना कैसे हुई और उसकी रक्षा के लिए मेहनतकश जनता किस प्रकार बहादुरी के साथ लड़ी। इस बार हम देखेंगे कि कम्यून ने सच्चे जनवाद के उसूलों को इतिहास में पहली बार व्यवहार में कैसे लागू किया और यह दिखाया कि "जनता की सत्ता" वास्तव में क्या होती है।

– सम्पादक

कम्यून ने दिखाया 'ऐसी होती है मेहनतकश जनता की सत्ता!'

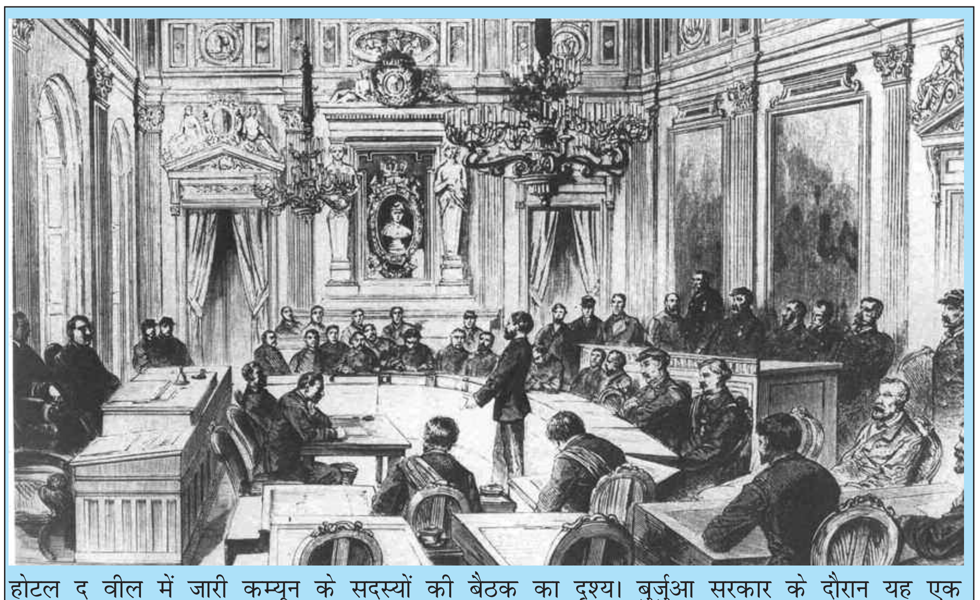

होटल द वील में जारी कम्यून के सदस्यों की बैठक का दृश्य। बुर्जुआ सरकार के दौरान यह एक आलीशान होटल था। इसी के हॉल में कम्यून की बैठकें होती थीं और यहीं से सभी महत्वपूर्ण आदेश जारी किये जाते थे।

1. कम्यून के चुनाव की पूर्वसंध्या पर, नेशनल गार्ड की केन्द्रीय कमेटी ने, जो उस समय तक शासन सँभाल रही थी, एक असाधारण घोषणा जारी की जो कम्यून के नेतृत्व की ईमानदारी और राजनीति के प्रति उसके स्वस्थ जनवादी तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को बताती है। इसमें कहा गया था:

"हमारा मिशन पूरा हो चुका है। होटल द वील (जहाँ से कम्यून का काम-काज चलाया जा रहा था) में, हम आपके चुने हुए प्रतिनिधियों के लिए जगह खाली कर देंगे। ... इस सच्चाई को मत भूलियेगा कि आपकी सबसे अच्छी तरह सेवा वही लोग कर सकते हैं जिन्हें आप अपने बीच से चुनेंगे, जो आपकी तरह से जीते हैं, और उन्हीं तकलीफ़ों से गुज़रे हैं। महत्वाकांक्षी और पद-ओहदे के भूखे लोगों से सावधान रहिये... ऐसे बात-बहादुरों से सावधान रहिये जो काम नहीं कर सकते।"

2. अब तक की सभी शोषक राज्यसत्ताओं की यही विशेषता रही है कि राज्य चलाने वाले लोग समाज के सेवक के बजाय समाज के स्वामी बन जाते रहे हैं। इस स्थिति को रोकने के लिए कम्यून ने दो अचूक साधनों का इस्तेमाल किया। पहला यह कि इसने प्रशासकीय, न्यायिक और शैक्षिक – सभी पदों पर सभी सम्बन्धित लोगों की नियुक्तियाँ सार्विक मताधिकार के आधार पर चुनाव के द्वारा कीं और इस शर्त के साथ कि कभी भी उन्हीं निर्वाचकों द्वारा चुने गये व्यक्ति को वापस भी बुलाया जा सकता था। और दूसरा यह कि, ऊँचे और निचले दर्जे के सभी पदाधिकारियों को वही वेतन मिलता था जो अन्य मज़दूरों को। कम्यून द्वारा किसी को दी जाने वाली सबसे ऊँची तनख़्वाह 6,000 फ़्रैंक थी। इन दो अभूतपूर्व फ़ैसलों से कम्यून ने पदलोलुपता और कैरियरवाद पर असरदार चोट की।

पेरिस की घेरेबन्दी के कारण आर्थिक संकट झेल रहे बहुत से मज़दूरों को अपने औज़ार और घरेलू सामान तक गिरवी रखने पड़े थे। कम्यून ने इन सामानों की नीलामी पर तत्काल रोक लगा दी और उन्हें वापस करने का आदेश दिया। ऊपर के चित्र में एक दुकान में गिरवी रखे सामान मज़दूरों को लौटाये जा रहे हैं।

3. दुश्मन सेना से घिरे रहने और अनगिनत कठिनाइयों के बावजूद कम्यून की जनरल काउंसिल ने कुछ ही समय में बहुत बड़े-बड़े फ़ैसले किये। 16 अप्रैल का कम्यून ने उन सभी कारख़ानों को फिर से शुरू करने का आदेश दिया, जिन्हें उनके मालिक बन्द करके भाग गये थे। इन कारख़ानों के मजदूरों को कोआपरेटिव बनाने की सलाह दी गयी। ब्रेड बनाने वाले पेरिस के सैकड़ों कारख़ानों में रातभर काम करने का चलन रोक दिया गया। रोज़गार दफ़्तर को बन्द कर दिया गया क्योंकि ये दलालों के कब्ज़े में थे जो मज़दूरों का घिनौना शोषण करते थे। समय की कमी के कारण कम्यून के आदेशों में से कुछ ही लागू हो पाये। (कम्यून 72 दिनों तक रहा जिसमें से केवल 60 दिन उसकी बैठकें हो पायीं।) स्त्रियों को वोट देने का अधिकार दे दिया गया, अक्टूबर 1870 से अप्रैल 1871 तक, यानी पेरिस की घेरेबन्दी के दिनों का मकानों का सारा किराया रद्द कर दिया गया। सूदख़ोरी पर रोक लगा दी गयी और उधार दफ़्तरों में गिरवी रखी गये मज़दूरों के सभी औज़ार वापस लौटा दिये गये।

कम्यून ने पहली बार वास्तविक धर्मनिरपेक्ष जनवाद को साकार करते हुए यह घोषणा की कि धर्म हर आदमी का निजी मामला है और राज्य या सरकार को इससे एकदम अलग रखा जायेगा। नतीजतन, चर्च को सत्ता से अलग कर दिया गया। धार्मिक अनुष्ठानों पर पैसे की फ़िज़ूलखर्ची पर रोक लग गयी। चर्च की सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। स्कूलों शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक चिह्नों, तस्वीरों और पूजा-प्रार्थना पर रोक लगा दी गयी।

4. कम्यून में महत्वपूर्ण से महत्वपूर्ण ओहदे और ज़िम्मेदारी वाले व्यक्ति को भी कोई विशेषाधिकार नहीं हासिल था।

मज़दूर और अफ़सरों-मंत्रियों के तनख़्वाहों के भीतर पूँजीवादी हुकूमत के दौरान जो आकाश-पाताल का अन्तर था, उसे ख़तम कर दिया गया। राज्य के नेता जो वेतन लेते थे वह एक कुशल मज़दूर के वेतन के बराबर होता था। अधिक काम करना उनका अनिवार्य कर्तव्य था, पर उन्हें अधिक वेतन लेने का या किसी भी तरह की विशेष सुविधा का कोई अधिकार नहीं था। यह एक अभूतपूर्व चीज थी। इसने 'सस्ती सरकार' के नारे को सच्चे अर्थों में यथार्थ में बदल दिया। इसने शासकीय मामलों के संचालन के इर्दगिर्द निर्मित "रहस्य" और "विशिष्टता" के उस वातावरण को समाप्त कर दिया जो शोषक वर्ग द्वारा जनता को मूर्ख बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। इसने राजकीय मामलों के संचालन को सीधे-सीधे एक कामगार के कर्तव्यों में बदल दिया और राज्य के पदाधिकारियों को 'विशेष औजारों' से काम लेने वाले कामगारों में रूपान्तरित कर दिया। कम्यून के नेताओं पर काम का बहुत बोझ था। काउंसिल के सदस्यों को क़ानून बनाने के अलावा कई कार्यकारी और सैनिक ज़िम्मेदारियाँ भी उठानी पड़ती थीं।

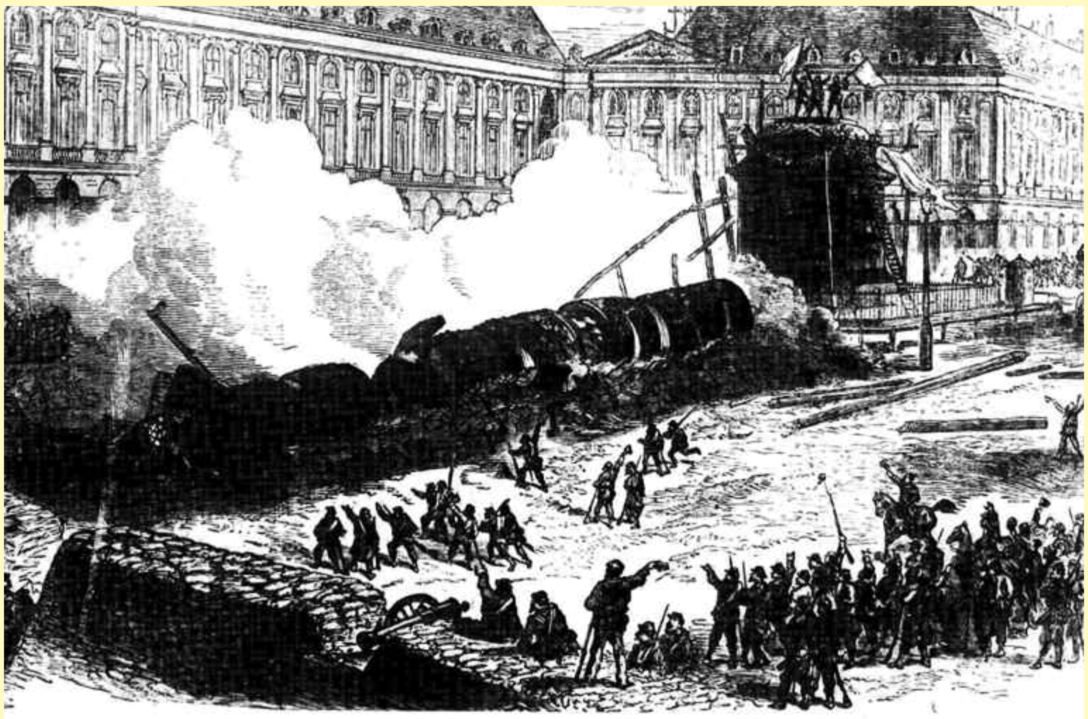

कम्यून अन्धराष्ट्रवाद, विस्तारवाद और राष्ट्रों के बीच युद्ध का विरोधी था। नेपोलियन द्वारा स्थापित विजय-स्तम्भ को इसीलिए ढहा दिया गया कि वह अन्धराष्ट्रवाद, विस्तारवाद और सैन्यवाद का प्रतीक था। जिस दिन उसे गिराया गया उस दिन गले में लाल स्कार्फ़ बाँधे और विशालकाय लाल बैनर लिये हुए हज़ारों लोग वेन्दोम स्तम्भ के इर्दगिर्द इकट्ठा हुए। यह एक विराटकाय मूर्ति थी जिसके ऊपर नेपोलियन बोनापार्त की काँसे की प्रतिमा लगी थी। जश्न का माहौल था। आसपास की इमारतें भी लाल रेशमी कपड़ों से सजी थीं। विजेता सम्राट के सिर में एक पुली जोड़ी गयी, चरखी घूमी और सिर धड़ाम से ज़मीन पर आ गिरा। लोग विजय-स्तम्भ के ध्वंसावशेषों पर चढ़ गये। उसके आधार पर अब एक लाल झण्डा लहरा रहा था। अब यह किसी एक देश की विजय का प्रतीक स्तम्भ नहीं था, बल्कि मानवजाति का विजय-स्तम्भ था। कम्यून के शब्दों में यह स्तम्भ "बर्बरता का समारक, पाशविक शक्ति का प्रतीक, सैन्यवाद का उद्घोष, अन्तरराष्ट्रीय क़ानून का नकार, विजेता के द्वारा पराजित का निरन्तर अपमान, और फ्रांसीसी गणराज्य के तीन महान सिद्धान्तों में एक से एक, भाईचारे का उल्लंघन" था।

JOURNAL OFFICIEL

DE LA RÉPUBLIQUE FRANÇAISE

कम्यून के आधिकारिक अख़बार का पहला पन्ना। इसमें कम्यून के सभी दस्तावेज़, आज्ञप्तियाँ, बैठकों की रिपोर्टें, क्रान्तिकारी पेरिस की विभिन्न संस्थाओं के फ़ैसले, नोटिसें और सैन्य रिपोर्टें छापी जाती थीं। कम्यून जनता से छिपाकर कोई काम नहीं करता था। हर कार्रवाई और हर निर्णय की जानकारी आम लोगों को समय से दी जाती थी और उन्हें भागीदार बनाया जाता था।

महान चित्रकार गुस्ताव कूर्बे, जिसकी पेंटिंग्स ने पूरे यूरोप को अचम्भित कर दिया था, कम्यून की परिषद का सक्रिय सदस्य था। वह कलाकारों के महासंघ का अध्यक्ष था और उसे कम्यून के शिक्षा आयोग का सदस्य बनाया गया था। उन्होंने स्कूलों में शिक्षा के सुधार की योजनाएँ बनायीं, युद्ध के कारण बन्द कर दिये गये संग्रहालयों को फिर से खोला और स्त्रियों की शिक्षा के लिए एक आयोग गठित किया। उस समय तक स्त्रियों की सार्वजनिक शिक्षा के बारे में सोचा भी नहीं जाता था।

6 अप्रैल को 'नेशनल गार्ड्स' की 137वीं बटालियन ने उस बदनाम गिलोतीन को बाहर निकालकर सार्वजनिक तौर पर जला दिया जिससे गत 75 वर्षों के भीतर सैकड़ों लोगों को मृत्युदण्ड दिया गया था। यह बुर्जुआ राज्यसत्ता के आतंक के नाश का प्रतीक था।

5. हम देखते आये हैं कि सामन्ती या पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य अपने अधिकारियों को बहुत ऊँचे स्तर की जीवन-स्थितियाँ और बहुतेरे विशेषाधिकार देते हैं ताकि उन्हें जनता को कुचल डालने वाला तानाशाह बना दिया जाये।

अपने ऊँचे ओहदों पर बैठे हुए, मोटी तनख़्वाहें उठाते हुए और लोगों पर धौंस जमाते हुए–यही है शोषक वर्गों के अधिकारियों की तस्वीर। पेरिस कम्यून के पहले के फ्रांस में अधिकारियों की सालाना तनख़्वाहें इस प्रकार थीं : नेशनल असेम्बली के प्रतिनिधि के लिए 30,000 फ्रैंक; मंत्री के लिए 50,000 फ्रैंक; प्रिवी कौंसिल के सदस्य के लिए एक लाख फ्रैंक; स्टेट कौंसिलर के लिए 1 लाख 30 हजार फ्रैंक। यदि कोई व्यक्ति कई आधिकारिक पदों पर एक साथ काम करता था तो वह इकट्ठे कई तनख़्वाहें उठाता था। जैसे, नेपोलियन तृतीय का प्रिय पात्र राउहेर एक ही साथ नेशनल असेम्बली का प्रतिनिधि, प्रिवी कौंसिल का सदस्य और स्टेट कौंसिलर–तीनों था। उसकी कुल सालाना तनख़्वाह 2 लाख 60 हजार फ्रैंक थी। पेरिस के एक कुशल मज़दूर को इतनी रकम कमाने के लिए 150 वर्षों तक काम करना पड़ता। ख़ुद नेपोलियन तृतीय को सरकारी ख़ज़ाने से सालाना 2 करोड़ 50 लाख फ्रैंक दिये जाते थे। उसकी कुल सालाना सरकारी आमदनी तीन करोड़ फ्रैंक थी।

फ्रांसीसी सर्वहारा इस स्थिति से घृणा करता था। पेरिस कम्यून की स्थापना के पहले भी, उसने कई मौकों पर यह माँग की थी कि अधिकारियों की ऊँची तनख़्वाहों की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये। कम्यून की स्थापना के साथ ही, मेहनतकश अवाम की यह चिरकालिक आकांक्षा पूरी हो गई। 1 अप्रैल को यह प्रसिद्ध आज्ञप्ति जारी हुई कि किसी भी पदाधिकारी को दी जाने वाली सबसे ऊँची सालाना तनख़्वाह 6,000 फ्रैंक से अधिक नहीं होनी चाहिए। यह उस समय एक कुशल फ्रांसीसी मज़दूर की सालाना मज़दूरी की कुल रकम के बराबर थी। पेरिस कम्यून ने अपने पदाधिकारियों द्वारा एक साथ कई तनख़्वाहें उठाने पर भी रोक लगा दी।

उस दौर का एक कार्टून – 'बुरा समय, अच्छा समय'। इसमें दिखाया गया है कि कम्यून के उदय के साथ ही दुष्ट पैसेवालों के लिए बुरा समय आ गया है जबकि मेहनतकशों का अच्छा समय अब आया है।

6. **इसके साथ ही** कम्यून ने कम तनख़्वाहों को बढ़ाने का भी काम किया ताकि वेतनमान में अन्तर को कम किया जा सके। उदाहरण के तौर पर डाकख़ाने में कम तनख़्वाह वाले कर्मचारियों की पगार 800 फ्रैंक सालाना से बढ़ाकर 1200 फ्रैंक कर दी गयी जबकि 12,000 फ्रैंक सालाना की ऊँची तनख़्वाहों को आधा घटाकर 6,000 फ्रैंक कर दिया गया। कम तनख़्वाह वाले कर्मचारियों की आसानी के लिए कम्यून ने तत्काल सख़्त फ़ैसले द्वारा तनख़्वाह से होने वाली सभी कटौतियों और जुर्मानों पर भी रोक लगा दी।

विशेषाधिकारों, ऊँची तनख़्वाहों और एक साथ कई पदों के लिए कई तनख़्वाहों की समाप्ति से सम्बन्धित नियमों को लागू करने में कम्यून के सदस्यों ने खुद आदर्श प्रस्तुत किया। कम्यून के एक सदस्य थीज़ को, जो डाकख़ाने का प्रभारी था, नियमों के अनुसार 500 फ्रैंक मासिक तनख़्वाह मिल सकती थी, पर वह सिर्फ़ 450 फ्रैंक लेने पर ही राज़ी हुआ। कम्यून के जनरल व्रोब्लेवस्की ने स्वेच्छा से अधिकारी श्रेणी का अपना वेतन छोड़ दिया और एलिसे महल में दिये गये अपार्टमेण्ट में रहने से इंकार कर दिया। उसने घोषणा की : "एक जनरल की जगह उसके सैनिकों के बीच होती है।" कम्यून की कार्यकारिणी समिति ने जनरल की पदवी को समाप्त करने के लिए भी एक प्रस्ताव पारित किया। 6 अप्रैल के अपने प्रस्ताव में समिति ने कहा : "इस तथ्य के मद्देनज़र कि जनरल की पदवी नेशनल गार्ड के जनवादी संगठन के उसूलों से मेल नहीं खाती, ... जनरल की पदवी समाप्त करने का निर्णय लिया जाता है।" यह निर्णय व्यवहार में लागू करने के लिए कम्यून को समय नहीं मिल सका।

7. **पेरिस कम्यून** में जनसमुदाय वास्तविक स्वामी था। कम्यून जबतक अस्तित्व में था, जनसमुदाय व्यापक पैमाने पर संगठित था और सभी अहम राजकीय मामलों पर लोग अपने-अपने संगठनों में विचार-विमर्श करते थे। रोज़ाना क्लब-मीटिंगों में लगभग 20,000 ऐक्टिविस्ट हिस्सा लेते थे जहाँ वे विभिन्न छोटे-बड़े सामाजिक और राजनीतिक मसलों पर अपने प्रस्ताव या आलोचनात्मक विचार रखते थे। वे क्रान्तिकारी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं में लेख और पत्र लिखकर भी अपनी आकांक्षाओं और माँगों को अभिव्यक्त करते थे। जनसमुदाय का यह क्रान्तिकारी उत्साह और यह पहलकदमी कम्यून की शक्ति का स्रोत थी।

कम्यून के सदस्य जनसमुदाय के विचारों पर विशेष ध्यान देते थे, इसके लिए लोगों की विभिन्न बैठकों में हिस्सा लेते थे और उनके पत्रों का अध्ययन करते थे। कम्यून की कार्यकारिणी समिति के महासचिव ने कम्यून के सेक्रेटरी को पत्र लिखते हुए कहा था: "हमें प्रतिदिन, ज़ुबानी और लिखित–दोनों ही रूपों में बहुत सारे प्रस्ताव प्राप्त होते हैं जिनमें से कुछ व्यक्तियों द्वारा और कुछ क्लबों और इण्टरनेशनल की शाखाओं द्वारा भेजे गये होते हैं। ये प्रस्ताव अक्सर उत्तम कोटि के होते हैं और कम्यून द्वारा इनपर विचार किया जाना चाहिए।" वास्तव में, कम्यून जनसमुदाय के प्रस्तावों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करता था और उन्हें स्वीकार करता था। कम्यून की बहुत-सी महान आज्ञप्तियाँ जनसमुदाय के प्रस्तावों पर आधारित थीं, जैसे कि राज्य के पदाधिकारियों के लिए ऊँची तनख़्वाहों की व्यवस्था समाप्त करना, बकाया किराये को रद्द करना, धर्मनिरपेक्ष शिक्षा-व्यवस्था लागू करना, नानबाइयों के लिए रात की पाली में काम करने की व्यवस्था समाप्त करना, वगैरह-वगैरह।

एक और कार्टून - 'ल पेर दुशेन का गुस्सा'। 'ल पेर दुशेन' एक लोकप्रिय क्रान्तिकारी अख़बार था। कार्टून कम्यून के दुश्मनों, थियेर सरकार के नेताओं और वर्साय के प्रतिक्रियावादियों का पर्दाफ़ाश करने में क्रान्तिकारी पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका को दर्शाता है।

19 अप्रैल को कम्यून ने पूरे पेरिस में चिपकाये गये बड़े-बड़े पोस्टरों के ज़रिये उन लक्ष्यों की घोषणा की जिनके लिए वह लड़ रहा था: 'गणराज्य को मज़बूत बनाना ...कम्यून की सम्पूर्ण स्वायत्तता का फ्रांस के सभी इलाक़ों में विस्तार... व्यक्तिगत स्वातंत्र्य, अन्तरात्मा की स्वतंत्रता और श्रम की स्वतंत्रता की सम्पूर्ण गारण्टी... ' इसका अन्त इन शब्दों के साथ हुआ: '18 मार्च की जन पहलकदमी द्वारा शुरू हुई कम्यून की क्रान्ति ने एक नये राजनीतिक युग का सूत्रपात किया है, जो प्रयोगात्मक, सकारात्मक और वैज्ञानिक है। इसके साथ ही, पुराने ढंग की शासकीय और धार्मिक दुनिया का, सैन्यवाद का, एकाधिकारवाद का, और उन सभी विशेषाधिकारों का अन्त हो जायेगा जो सर्वहारा की गुलामी और राष्ट्र के दुर्भाग्य और कष्टों का कारण हैं।

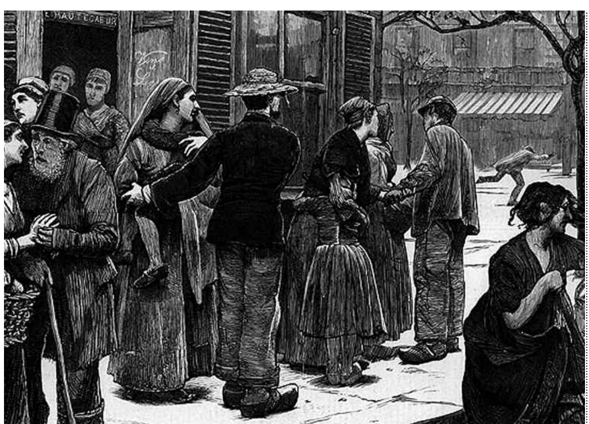

सड़कें हर समय भरी होती थीं, हर जगह चर्चाएँ चलती रहती थीं। लोग कठिनाइयों के बावजूद आपस में चीज़ें साझा करते थे। बिना किसी तरह की पुलिस के, सड़कें सुरक्षित थीं।

किसी भी समय हमला करने के लिए तैयार वर्साय की सेना से घिरे हुए पेरिस में चौबीसों घण्टे, पूरे शहर में, सड़कों, पर चायख़ानों में, चर्चों के अहातों में, लोगों की छोटी-छोटी सभाएँ और सलाह-मशविरे चलते रहते थे जिनमें लोग मिलकर फ़ैसले लेते थे।

एक क्रान्तिकारी पेरिस क्लब की बैठक का दृश्य। कम्यून के दौरान लोगों को एकजुट और सक्रिय करने में क्रान्तिकारी पेरिस क्लबों ने बड़ी भूमिका निभायी थी।

8. **जनसमुदाय** कम्यून और इसके सदस्यों के कार्यों की सावधानीपूर्वक जाँच-पड़ताल भी करता था। उस दौरान तृतीय प्रान्त के कम्युनल क्लब का एक प्रस्ताव कहता है : "जनता ही स्वामी है... जिन लोगों को तुमने चुना है अगर वे ढुलमुलपन का या बेकाबू होने का संकेत देते हैं, तो उन्हें आगे की ओर धक्के दो ताकि हमारा लक्ष्य पूरा हो सके – यानी हमारे अधिकारों के लिए जारी संघर्ष लक्ष्य तक पहुँच सके।" प्रतिक्रान्तिकारियों, भगोड़ों और गद्दारों के ख़िलाफ़ दृढ़ कदम न उठाने के लिए, स्वयं कम्यून द्वारा पारित आज्ञप्तियों को तत्काल लागू नहीं करने के लिए और कम्यून के सदस्यों के बीच एकता के अभाव के लिए जनसमुदाय ने कम्यून की आलोचना की। उदाहरण के तौर पर, 'ल पेर दुशेन' अख़बार के 27 अप्रैल के अंक में छपा एक पाठक का पत्र कहता है : "कृपया समय-समय पर कम्यून के सदस्यों को धक्के लगाते रहें, उनसे कहें कि वे सो न जाया करें, और ख़ुद अपनी आज्ञप्तियों को लागू करने में टालमटोल न करें। उन्हें अपने आपसी झगड़ों को समाप्त कर लेना चाहिये क्योंकि सिर्फ़ विचारों की एकता के ज़रिए ही वे अधिक शक्ति के साथ कम्यून की हिफ़ाज़त कर सकते हैं।"

पेरिस की घेरेबन्दी के दौरान सामाजिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए स्थानीय रिहायशी इलाक़ों (मुहल्लों) में उठ खड़े हुए अनगिनत तदर्थ संगठन आगे भी बने रहे और कम्यून के सहयोगी बन गये। ये स्थानीय सभाएँ, जिनमें आम तौर स्थानीय मज़दूर शामिल होते थे, कम्यून के कामों पर निगरानी भी रखती थीं और ख़ुद अपनी ओर से भी कई उपयोगी कामों को अंजाम देती थीं। कहीं वे स्कूलों के लिए पढ़ाई की सामग्री जुटाती थीं, तो कहीं स्कूल या अनाथ बच्चों के लिए घर स्थापित करती थीं। ऐसे अनेक उदाहरण थे। लेकिन एक बात हर जगह साफ़ थी – कम्यून ने साधारण मज़दूरों की पहलकदमी को जगा दिया था और वे आगे बढ़कर उन कामों को सँभाल रहे थे जिन्हें पहली मोटी तनख़्वाह पाने वाले प्रशासनिक अफ़सर तथा विशेषज्ञ किया करते थे।

...अगले अंक में जारी

स्त्री मज़दूरों का संघर्ष श्रम की मुक्ति के महान संघर्ष का हिस्सा है

एलियानोर मार्क्स

मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक कार्ल मार्क्स की सबसे छोटी बेटी *एलियानोर मार्क्स* सोलह वर्ष की उम्र से ही अपने पिता के सेक्रेटरी की ज़िम्मेदारी उठाने लगी थीं और मज़दूर आन्दोलन तथा समाजवाद पर अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में उनके साथ भागीदारी करती थीं। कार्ल मार्क्स की मृत्यु के बाद उनकी अधूरी पाण्डुलिपियों को प्रकाशन के लिए तैयार करने में एलियानोर ने फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ मिलकर काम किया। एलियानोर और उनके पति एडवर्ड अवेलिंग इंग्लैण्ड में समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय थे। एलियानोर इंग्लैण्ड की सबसे अच्छी वक्ताओं के रूप में प्रसिद्ध थीं। 1886 में एलियानोर ने क्लेमेंटिना ब्लैक के साथ मिलकर स्त्री मज़दूरों को संगठित करने का काम शुरू किया। वे विमेन्स ट्रेड यूनियन लीग में भी सक्रिय थीं। लन्दन की एक बड़ी माचिस फ़ैक्ट्री की स्त्री मज़दूरों की सफल हड़ताल संगठित करने में भी उन्होंने अपनी मित्र एनी बेसेण्ट की मदद की थी। उन्होंने 'नेशनल यूनियन ऑफ़ गैस वर्कर्स एंड जनरल लेबरर्स' संगठित करने में अहम भूमिका निभायी और गोदी मज़दूरों की हड़ताल में शामिल रहीं। एलियानोर ने वैज्ञानिक समाजवाद की अनेक वैचारिक पुस्तकों और कई प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों का अंग्रेज़ी में बेहतरीन अनुवाद किया। उन्होंने मज़दूर आन्दोलन पर कई पुस्तकें और महत्वपूर्ण लेख लिखे जिनमें से कुछ हैं: 'दि फ़ैक्ट्री हेल' (कारख़ाने का नर्क), 'दि विमेन क्वेश्चन' (स्त्रियों का प्रश्न), 'अमेरिका में मज़दूर आन्दोलन', 'शेली का समाजवाद' और 'इंग्लैण्ड में मज़दूर आन्दोलन'। इस बार 'स्त्री मज़दूर' स्तम्भ में हम एलियानोर के कुछ लेखों के महत्वपूर्ण अंश प्रकाशित कर रहे हैं जो हमारे देश में स्त्री मज़दूरों को संगठित करने की समस्याओं और चुनौतियों के लिए आज भी बेहद प्रासंगिक हैं। – सम्पादक

एलियानोर मार्क्स

हम किस तरह संगठित हों?

केवल वर्ग संघर्ष का ध्यान दिलाना ही काफ़ी नहीं है। मज़दूरों को यह भी अवश्य जानना चाहिए कि किन हथियारों का और कैसे उपयोग करना है। किन स्थितियों में हमला करना है और पहले से प्राप्त किन लाभों को बनाये रखना है। और यही कारण है कि मज़दूर अब सीख रहे हैं कि कब और कहाँ हड़तालों और बहिष्कारों का सहारा लेना है, मज़दूरों के अधिकारों की हिफ़ाज़त करने वाले क़ानून कैसे हासिल करें और क्या करें कि पहले से मिले हुए क़ानून केवल कागज़ पर ही न रह जायें। और अब ऐसे में, हम स्त्रियों को क्या करना है? बिना किसी शक के हम एक चीज़ करनी है। हम संगठित होंगे – 'स्त्रियों' के रूप में संगठित नहीं, बल्कि सर्वहाराओं के रूप में; हमारे पुरुष कामगारों की स्त्री प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में नहीं, बल्कि संघर्ष में उनकी साथियों के रूप में।

और सबसे गम्भीर सवाल यह है कि हम कैसे संगठित हों? मुझे लगता है कि हमें अन्तिम लक्ष्य – अपने वर्ग की मुक्ति तक पहुँचने के साधन के रूप में अपनी संगठित शक्ति का उपयोग करते हुए ट्रेड यूनियनों में संगठित होने से शुरुआत करनी चाहिए। यह काम आसान नहीं होगा। दरअसल, स्त्री मज़दूरों की स्थिति ऐसी है जिसमें आगे बढ़ना अक्सर इस कदर कठिन होता है कि दिल टूट जाये।

लेकिन दिनो-दिन यह काम आसान होता जायेगा, और जैसे-जैसे स्त्रियाँ और विशेष रूप से पुरुष, यह देखना सीख जायेंगे कि सभी मज़दूरों को एकजुट करने में कितनी ताकत है, आनुपातिक दृष्टि से यह काम कम से कम कठिन लगने लगेगा।

स्त्री मज़दूरों को ट्रेड यूनियनों में संगठित करने की समस्याएँ

हालांकि हम यह प्रगति देख कर खुश हैं, और मज़दूर संगठनों ने जो प्रगति की है उसे मानते भी हैं, लेकिन हम इस सच्चाई की ओर से अपनी आँखें बंद नहीं कर सकते कि स्त्रियाँ आज भी बहुत पीछे हैं और वर्षों की मेहनत से हासिल नतीजे बहुत ही कम हैं।

यहाँ तक कि कपड़ा उद्योग में, जहाँ स्त्री मज़दूर पहली बार ट्रेड यूनियनों में संगठित हुई थीं, वहाँ भी बहुत सारी कमियाँ हैं। पहली बात तो यह कि बहुत से मामलों में स्त्रियाँ आज भी असंगठित हैं, हालाँकि अब इसमें लगातार कमी आ रही है; क्योंकि यूनियनें देख रही हैं कि असंगठित स्त्री मज़दूर किस तरह उनके ख़िलाफ़ मालिकों के हाथ में हथियार बन जाती हैं। दूसरी बात यह कि प्राय: अपनी यूनियन के संचालन में स्त्री मज़दूरों की कोई आवाज़ ही नहीं होती।

उदाहरण के लिए लंकाशायर और यार्कशायर में, जहाँ स्त्रियाँ लगभग बिना किसी अपवाद के यूनियनों की सदस्य हैं, नियमित रूप से चन्दा देती हैं, और बेशक उनसे लाभ भी उठाती हैं, मगर इन संगठनों के नेतृत्व में उनकी कोई भूमिका नहीं होती, ख़ुद अपने कोष के प्रबन्धन में उनकी कोई बात नहीं सुनी जाती, और अभी तक कभी भी अपनी ही यूनियन के सम्मेलनों में प्रतिनिधि नहीं बनी हैं। प्रतिनिधित्व और प्रशासन पूरी तरह पुरुष मज़दूरों के हाथ में रहता है।

स्त्रियों की इस स्पष्ट महत्वहीनता और उदासीनता का कारण आसानी से समझा जा सकता है। सभी स्त्री संगठनों के ज़्यादातर हिस्से में यह आम है और हम इसे नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते। कारण यह है कि आज भी स्त्रियों को दो ज़िम्मेदारियाँ निभानी होती हैं: फ़ैक्टरी में वे सर्वहारा होती हैं और दिहाड़ी कमाती हैं जिस पर काफ़ी हद तक वे और उनके बच्चे निर्भर रहते हैं लेकिन वे घरेलू गुलाम भी हैं, अपने पतियों, पिताओं और भाइयों की बिना मज़दूरी की नौकर। सुबह फ़ैक्टरी जाने से पहले ही स्त्रियाँ इतना काम कर चुकी होती हैं कि अगर वही काम मर्दों को करना पड़े तो वे समझेंगे कि उन्होंने अच्छा-ख़ासा काम कर दिया है। दोपहर के समय मर्दों को कम से कम थोड़ा आराम मिलने की उम्मीद होती है, पर स्त्रियों को तब भी आराम नहीं मिलता। और आख़िरकार शाम का वक़्त बेचारे मर्द को अपने लिए मिल जाता है लेकिन और भी बेचारी स्त्री को तो उस वक़्त भी काम करना होता है। घरेलू काम उसका इन्तज़ार कर रहे होते हैं, बच्चों की देखभाल करनी होती है, कपड़ों की सफ़ाई और मरम्मत करनी पड़ती है। संक्षेप में, अगर किसी कारख़ाना इलाक़े के मर्द दस घण्टे काम करते हैं तो औरतें सोलह घंटे करती हैं। फिर भला वे किसी और चीज़ में सक्रिय रुचि कैसे ले सकती हैं? यह भौतिक रूप से असम्भव लगता है। लेकिन इसके बावजूद इन्हीं कारख़ाना इलाक़ों में कुल मिलाकर औरतों की स्थिति सबसे अच्छी है। वे 'अच्छी' मज़दूरी पाती हैं, उनके काम के बिना मर्दों का काम नहीं चल सकता, और इसीलिए वे सापेक्षिक रूप से स्वतंत्र हैं। जब हम उन शहरों या ज़िलों में पहुँचते है जहाँ स्त्रियों के काम का मतलब है नीरस और थकाऊ काम, जहाँ आम तौर पर बहुत सारा काम घर पर किया जाने वाला काम (किसी नियोक्ता के लिए घर पर किया गया काम) होता है, वहाँ हम पाते हैं कि स्थितियाँ सबसे बुरी हैं और संगठन की ज़रूरत सबसे अधिक है।

हाल के वर्षों में इस समस्या पर काफी काम किया गया है, लेकिन यह कहना मेरा फ़र्ज़ है कि किये गये प्रयासों के मुक़ाबले नतीजे कुछ भी नहीं हैं। लेकिन मुझे लगता है कि स्त्री मज़दूरों की दयनीय स्थिति ही इसकी वजह नहीं है। बल्कि, मेरा मानना है कि इसका एक प्रमुख कारण अधिकांश स्त्री संगठनों के गठन और संचालन के तरीक़े में निहित है। हम देखते हैं कि उनमें से अधिकतर का नेतृत्व मध्यवर्ग के लोग करते हैं, स्त्रियाँ भी और पुरुष भी। इसमें दो राय नहीं कि ये लोग एक हद तक अच्छी नीयत से काम करते हैं, लेकिन वे समझ नहीं सकते और समझना भी नहीं चाहते कि दरअसल मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का मकसद क्या है। वे अपने आसपास फैली ग़रीबी-बदहाली देखते हैं और असहज अनुभव करते हैं, और वे अभागे मज़दूरों की परिस्थितियाँ सुधारना चाहते हैं। लेकिन वे हमारे अपने लोग नहीं हैं।

लन्दन के दो संगठनों को लें जिन्होंने स्त्रियों की यूनियनें बनाने के लिए कड़ी मेहनत की है। विमेन्स ट्रेड यूनियन प्रोविडेंट लीग पुराना संगठन है और विमेन्स ट्रेड यूनियन एसोसिएशन नया है। बाद वाले के लक्ष्य पहले के मुक़ाबले कुछ अधिक उन्नत हैं लेकिन दोनों का ही संगठन, नेतृत्व और समर्थन सबसे सम्भ्रान्त और खाँटी बुर्जुआ किस्म के स्त्री-पुरुष करते हैं। बिशप, पादरी, बुर्जुआ सांसद और उनसे भी अधिक निम्न-पूँजीवादी मानसिकता वाली उनकी बीवियाँ, धनी और अभिजात स्त्रियाँ और भद्रजन – ये अनेक स्त्री संगठनों के संरक्षक हैं।

करोड़पति लार्ड ब्रेसेन जैसे मज़दूरों के बेशर्म शोषक और धुर प्रतिक्रियावादी सर जुलियन गोल्डश्मिड की पत्नी जैसी 'सम्भ्रान्त महिलाएँ' विमेन्स लीग के लिए धन जुटाने के वास्ते सैलून चाय पार्टियों का आयोजन करती हैं, जबकि लेडी डिल्के इस आन्दोलन का उपयोग अपने पति के राजनीतिक हित में करती हैं। मज़दूरों के बारे में ये लोग कितना कम जानते हैं इसका पता इस बात पर उनकी हैरानी से चलता है कि एक बैठक में स्त्री मज़दूरों ने 'आर्थिक रूप से अपने से बेहतर लोगों की समझदारी भरी सलाह में ... बहुत बुद्धिमानी भरी रुचि प्रदर्शित की!'

हमें आशा और विश्वास है कि मज़दूर स्त्रियाँ ख़ुद अपने मामलों में भी इतनी ही 'बुद्धिमानी भरी रुचि' लेंगी और अपने मामले ख़ुद सँभाल लेंगी, और सबसे बढ़कर यह कि वे सर्वहारा के महान आधुनिक आन्दोलन का एक विशाल और सजीव हिस्सा बन जायेंगी। काफ़ी हद तक वे ऐसा कर भी चुकी हैं।

स्त्री मज़दूरों और बुर्जुआ स्त्रियों के लक्ष्य अलग हैं

एक पुरानी कहावत है, 'नर्क का रास्ता नेक इरादों से तैयार किया जाता है।' स्त्री मज़दूर बुर्जुआ स्त्री आन्दोलन की माँगों को अच्छी तरह समझ सकती हैं, वे इन माँगों के प्रति सहानुभूति का रवैया रख सकती हैं और उन्हें रखना भी चाहिए; बस स्त्री मज़दूरों और बुर्जुआ स्त्रियों के लक्ष्य काफ़ी अलग हैं।

मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट तरीके से रखना चाहती हूँ, और मेरे ख़्याल से मैं बहुत-सी स्त्रियों की तरफ़ से बोल रही हूँ। स्त्रियों के रूप में निश्चित तौर पर हम स्त्रियों के लिए वही अधिकार हासिल करने से सजीव सरोकार रखती हैं जोकि पुरुषों को, जिनमें मज़दूर पुरुष भी शामिल हैं, आज हासिल हो चुके हैं। लेकिन हम मानते हैं कि यह 'स्त्री प्रश्न' श्रम की मुक्ति के आम सवाल का एक अनिवार्य अंग है।

इसमें दो राय नहीं कि 'स्त्री प्रश्न' मौजूद है। लेकिन हमारे लिए – जो जन्म से या फिर मज़दूरों के लक्ष्य के लिए काम करके मज़दूर वर्ग में गिने जाने के हक़दार हैं – यह आम मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का मुद्दा है। जब उच्च या मध्यवर्ग की स्त्रियाँ न्यायसंगत अधिकारों के लिए लड़ती हैं तो हम उसे समझ सकती हैं, उससे हमदर्दी रख सकती हैं, और ज़रूरत पड़ने पर मदद भी कर सकती हैं, और ये अधिकार हासिल होने से मज़दूर स्त्रियों को भी लाभ होगा। ...

यदि इन स्त्रियों की उठायी सारी माँगें आज मान ली जायें तब भी हम मज़दूर स्त्रियाँ वहीं होंगी जहाँ हम पहले थीं। स्त्री मज़दूर तब भी बेहद लम्बे समय तक, बेहद कम मज़दूरी पर, बेहद अस्वास्थ्यकर हालात में काम करती रहेंगी; तब भी उन्हें वेश्यावृत्ति और भुखमरी में से कोई एक चुनना होगा। यह भी पहले हमेशा से कहीं अधिक सच होगा कि वर्ग संघर्ष में स्त्री मज़दूरों को अपने कट्टर दुश्मनों के बीच नेक स्त्रियाँ भी मिलेंगी; उन्हें इन स्त्रियों से उतने ही तीखेपन से लड़ना होगा जितने तीखेपन के साथ मज़दूर वर्ग के उनके भाइयों को पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ लड़ना है। मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुष एक 'मुक्त' क्षेत्र चाहते हैं ताकि मज़दूरों का शोषण किया जा सके। ...

जब बुर्जुआ स्त्रियाँ किसी ऐसे अधिकार की माँग करती हैं जो हमारे लिए भी मददगार है, तो हम उनके साथ मिलकर लड़ेंगे, ठीक उसी तरह जैसे हमारे वर्ग के पुरुषों ने महज़ इसलिए मतदान के अधिकार को खारिज नहीं किया था कि यह माँग बुर्जुआ वर्ग ने उठायी थी। हम भी बुर्जुआ स्त्रियों द्वारा अपने हित में हासिल किये किसी ऐसे अधिकार को खारिज नहीं करेंगे जो वे हमें चाहे या अनचाहे प्रदान करते हैं। हम इन अधिकारों को हथियार के रूप में स्वीकार करते हैं, ऐसे हथियार के रूप में जो हमें मज़दूर वर्ग के अपने भाइयों के साथ खड़े होकर बेहतर ढंग से लड़ने के योग्य बनाते हैं। हम पुरुषों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए लामबन्द स्त्रियाँ नहीं हैं बल्कि शोषकों के ख़िलाफ़ लड़ रही मज़दूर हैं।

अनुवाद: विजयप्रकाश सिंह

दलितवादी राजनीति की त्रासदी: खोखला प्रतीकवाद और रस्मवाद

दलित मुक्ति का रास्ता मज़दूर इंक़लाब से होकर जाता है, पहचान की खोखली राजनीति से नहीं!

• शिशिर

बीते 11 मई को संसद में तूफ़ान आ गया था। अचानक पूरी की पूरी पूँजीवादी संसद एकजुट हो गयी थी! समझ में यह नहीं आ रहा था कि ये सारे अपराधी, भ्रष्टाचारी और मुनाफ़ाखोर किस दानवी ताक़त के ख़िलाफ़ एकाएक एकजुट हो गये हैं! यह तूफ़ान इस मुद्दे पर नहीं था कि देश में रोज़ हज़ारों ग़रीब मेहनतकशों के बच्चे भूख और कुपोषण से मर जाते हैं; यह ज़लज़ला इसलिए भी नहीं आया था कि हमारे देश में आरक्षण के लगभग साढ़े छह दशक बाद भी पूरी दलित आबादी का 95 फ़ीसदी से भी ज़्यादा खेतों या कारख़ानों में 12-14 घण्टे हाड़तोड़ मेहनत करने और साथ ही सवर्णों के हाथों रोज़-ब-रोज़ अपमान और ज़िल्लत झेलने को मजबूर है; न ही यह उथल-पुथल इसलिए मची थी कि देश के 54 करोड़ खेतिहर और औद्योगिक सर्वहारा (जिनका अच्छा-ख़ासा हिस्सा दलित और पिछड़ी जातियों से आता है) जीवन की बुनियादी ज़रूरतों से भी महरूम हैं! जी नहीं! यह तूफ़ान इन मुद्दों पर नहीं था! यह तूफ़ान आया था बारहवीं कक्षा के छात्रों की राजनीतिशास्त्र की पाठ्यपुस्तक में छपे एक कार्टून पर जिसमें संविधान बनाने की धीमी रफ़्तार पर व्यंग्य किया गया था। इस कार्टून में अम्बेडकर को संविधान-रूपी घोंघे पर बैठा दिखाया गया है, और उसके पीछे जवाहरलाल नेहरू हाथ में चाबुक लिये खड़े हैं! यह किताब 2006 से ही पाठ्यक्रम में थी और इसे मौजूदा सरकार के पहले कार्यकाल में सरकारी समिति द्वारा पास किया गया था। पिछले पाँच वर्षों में इस किताब पर कोई भी सवाल नहीं उठा। लेकिन 2012 में मायावती ने संसद में इस कार्टून पर सवाल उठाया और कहा कि इसमें अम्बेडकर का अपमान किया गया है। तुरन्त ही दलितों के हितों की नुमाइन्दगी का दावा करने वाले सारे चुनावी और ग़ैर-चुनावी मदारी मैदान में कूद पड़े। महाराष्ट्र के रामदास आठवले (जो कि फिलहाल शिवसेना और भाजपा की गोद में बैठे हुए हैं!), थोर तिरुमावलावन (जो कि तमिलनाडु के दलित पैंथर्स के नेता हैं, और चुनावी फ़ायदे के अनुसार कभी इस तो कभी उस चुनावी पार्टी की गोद में बैठने की कवायद में व्यस्त रहते हैं), और रामविलास पासवान तक, सभी इस कार्टून पर हल्ला मचाने के कोरस में शामिल हो गये। सरकार तुरन्त बचाव की मुद्रा में आ गयी और उसने इस पूरे मुद्दे पर तत्काल कार्रवाई करने का वायदा किया। अचानक सारे के सारे सांसद इस पर साथ हो गये और तीन दिनों बाद ही इस पाठ्यपुस्तक को हटाने, इसे तैयार करने वाले लोगों पर कार्रवाई करने या उनका इस्तीफ़ा लेने का प्रस्ताव पास हो गया। बाद में एक समिति भी बना दी गयी जो सभी पाठ्यपुस्तकों का मूल्यांकन करने वाली थी। 3 जुलाई को इस समिति ने अपनी सिफ़ारिश दे दी कि सभी पाठ्यपुस्तकों से देश के राजनेताओं और पार्टियों पर टिप्पणी करने वाले सारे कार्टून हटा दिये जायें, क्योंकि भारत एक विविधतापूर्ण देश है और ऐसे किसी भी कार्टून से किसी न किसी समुदाय की "भावनाओं को ठेस" पहुँच सकती है!

अम्बेडकर के कार्टून पर शुरू हुए विवाद पर सभी राजनीतिक पार्टियों ने एकस्वर में विरोध किया और इसे दलित अस्मिता का अपमान बताया। अम्बेडकर की कोई भी आलोचना नहीं की जा सकती। यदि कोई क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य से अम्बेडकर की राजनीतिक परियोजना की सीमाओं और अन्तरविरोधों की तरफ़ ध्यान आकर्षित करता है, तो दलितवादी बुद्धिजीवी और संगठन और साथ ही दलित आबादी को तुष्टिकरण और विचारधारात्मक आत्मसमर्पण के जरिये जीतने का सपना पालने वाले "क्रान्तिकारी" कम्युनिस्ट भी उस पर टूट पड़ते हैं और आनन-फानन में उसे दलित-विरोधी, सवर्णवादी आदि घोषित कर दिया जाता है! संसद में बैठने वाले चुनावी भाँड़ों ने भी बिल्कुल वैसा ही बर्ताव किया है, हालाँकि यहाँ पर जिस कार्टून में अम्बेडकर पर टिप्पणी की गयी थी, वह कोई क्रान्तिकारी, व्यवस्था-विरोधी या आमूलवादी कार्टून नहीं था। लेकिन यही मौक़ा था जब हर कोई अपने आपको सबसे बड़ा दलित-हितैषी दिखाने की होड़ में कूद पड़ा। वैसे भी मायावती और बसपा के सामने उत्तर प्रदेश चुनावों की हार ने एक संकट पैदा कर दिया था। 2014 में होने वाले आम चुनावों में बसपा का सितारा फिर से बुलन्द हो सके इसके लिए मायावती कुछ भी करने को तैयार दिख रही हैं। बसपा की अभी जो हालत है, उसमें डूबते को तिनके का सहारा वाला तर्क भी काम कर रहा है।

अम्बेडकर कार्टून विवाद ने मायावती को और साथ ही अस्तित्व का संकट झेल रहे अन्य दलितवादी अस्मितावादी संगठनों को एक मुद्दा दे दिया। अम्बेडकर की राजनीति और विचारधारा की मज़दूर वर्ग के नज़रिये से एक पूरी आलोचना रखी जा सकती है, और जिसके लिए अलग विस्तृत चर्चा और स्पेस की ज़रूरत होगी। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि अपने तमाम संवैधानिकतावाद, रैडिकल सुधारवाद, बुर्जुआ मानवतावादी सुधारवाद के बावजूद अम्बेडकर नये-नये बुतों के निर्माण के समर्थक नहीं थे। अम्बेडकर कोई क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ और दार्शनिक नहीं थे। उनका मकसद बुर्जुआ व्यवस्था के भीतर ही संवैधानिक तौर-तरीक़ों से दलितों के लिए बेहतर से बेहतर अधिकार हासिल करना था। अम्बेडकर ने यह ज़रूर कहा था कि जब तक सामाजिक और आर्थिक तौर पर दलितों को जनवादी अधिकार नहीं मिलेंगे, बराबरी नहीं मिलेगी तब तक राजनीतिक जनवाद का उनके लिए कोई विशेष अर्थ नहीं होगा। लेकिन यह भी सच है कि अम्बेडकर के पास दलितों की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति की कोई परियोजना नहीं थी। लेकिन अपनी इन सभी सीमाओं के बावजूद अम्बेडकर में अमेरिकी बुर्जुआ उदारवाद का इतना तत्व ज़रूर था कि वह कम से कम वैचारिक तौर पर किसी भी व्यक्ति, संगठन या विचारधारा को इतना "पवित्र" नहीं मानते थे कि वह आलोचना से परे हो। लेकिन आज अम्बेडकर के साथ ठीक यही हुआ है – अम्बेडकर और उनसे जुड़ी किसी भी चीज़ को इतना पुण्य-पवित्र बना दिया गया है, जितना कि धार्मिक प्रतीकों को हिन्दूवादियों ने बनाया है। और अगर कोई उन पर सवाल खड़ा करता है या आलोचना करता है, तो उसे उसी तरह के हमलों का निशाना बनाया जाता है जिस तरह के हमले फ़ासीवादी हिन्दुत्ववादी अपने दुश्मनों पर करते हैं। इसी का उदाहरण रिपब्लिकन पैंथर्स के सदस्यों ने इस कार्टून विवाद के बाद पेश किया जब उन्होंने इस पाठ्यपुस्तक को तैयार करने के लिए ज़िम्मेदार एक बुद्धिजीवी और शिक्षाविद् सुहास पल्शीकर पर हमला किया। स्पष्ट है कि हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी कट्टरपन्थ के जवाब में एक अम्बेडकरवादी ग़ैर-जनवादी कट्टरपन्थ का जन्म हुआ है। कोई भी विवेकवान राजनीतिक व्यक्ति एक क़िस्म के सर्वसत्तावाद और प्रतिक्रियावाद के जवाब में दूसरे क़िस्म के सर्वसत्तावाद और प्रतिक्रियावाद को नहीं चुनेगा। यह विवेक की ज़ुबान पर ताला लगाने के समान है, हालाँकि इससे विचार कभी ख़त्म नहीं होते। मज़दूर वर्ग का नज़रिया निश्चित तौर पर अम्बेडकर या किसी भी व्यक्ति या संगठन को बुत बनाने और फिर उसकी बुतपरस्ती करने का नहीं हो सकता और वह ऐसे किसी भी क़दम का विरोध करता है।

जिस दौर में अम्बेडकर कार्टून विवाद मीडिया में छाया हुआ था और सारे अस्मितावादी दलित राजनीति करने वाले मदारी उछल-कूद मचा रहे थे, उसी समय पटना हाई कोर्ट की एक बेंच ने बथानी टोला नरसंहार के सभी आरोपियों को दोषमुक्त कर दिया। ज्ञात हो कि इस जघन्य नरसंहार में बिहार के उच्च जातियों के ग़ैर-क़ानूनी सशस्त्र गिरोह रणवीर सेना ने 21 निर्दोष दलितों की हत्या कर दी थी। हाई कोर्ट ने उन सभी 23 लोगों को बरी कर दिया जिन्होंने इस हत्याकाण्ड को अंजाम दिया था। कोर्ट ने सभी चश्मदीद गवाहों की गवाही को यह कह कर नकार दिया कि वे उस समय मौक़े पर हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि अगर वे होते तो वे भी मार दिये गये होते! ऐसे हास्यास्पद तर्क को देते हुए पटना हाई कोर्ट ने सभी हत्यारों को छोड़ दिया। लेकिन ग़रीब दलित मज़दूरों के हत्यारों को छोड़े जाने पर किसी भी दलितवादी नेता, पार्टी, या संगठन ने कोई शोर नहीं मचाया। नीतीश कुमार सरकार ने यह कहकर अपनी रस्म निभा दी कि सरकार इस निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देगी। कुछ पार्टियों के नेताओं ने इस पर हल्के शब्दों में "निराशा" ज़ाहिर करके पल्ला झाड़ लिया। लेकिन मुख्य तौर पर पूरे बुर्जुआ राजनीतिक दायरों में इस निर्णय को लेकर सन्नाटा बना रहा। कारण साफ़ था – कोई भी पार्टी बिहार में सवर्ण और अगड़ों के बीच मौजूद अपने वोट बैंक को नहीं छेड़ना चाहती थी। चुनावी गणित के अनुसार इस निर्णय पर या तो चुप्पी साधना बेहतर था, या फिर हल्के शब्दों में कुछ रस्मी वाक्य ख़र्च कर देना। और यही हुआ। दलित हितैषी होने का दावा करने वाले तमाम संसदीय और ग़ैर-संसदीय अम्बेडकरवादी संगठनों ने भी इस पर कोई तीखी प्रतिक्रिया, अभियान, विरोध-प्रदर्शन या आन्दोलन का रास्ता अख़्तियार करना तो दूर, रस्म अदायगी भी ठीक से नहीं की। यही हाल अन्य सभी दलित विरोधी अपराधों पर होता है। चाहे आन्ध्र प्रदेश के करमचेदु केस की बात करें, या फिर खैरलांजी और लक्ष्मणपुर बाथे काण्ड की। हर जगह या तो न्याय नहीं मिला या फिर अधूरा न्याय मिला। लेकिन ये तमाम मसले अम्बेडकरवादी राजनीति और दलित अस्मिता की राजनीति करने वाले संगठनों (संसदीय और ग़ैर-संसदीय) के लिए उतने अहम नहीं थे। लेकिन अम्बेडकर के एक कार्टून पर सभी शोरगुल मचाने में एक-दूसरे को पीछे छोड़ने पर अमादा थे। ठीक उसी तरह से सारा हंगामा किया गया जैसे कि हाल ही में मुहम्मद और ईसा के कार्टूनों पर और रामानुजन के निबन्ध पर अलग-अलग धार्मिक कट्टरपन्थियों ने हल्ला मचाया था। या फिर एक फ़िल्म में प्रेमिका से प्रेम करते समय सरदार नायक के पगड़ी पहने रहने पर सिख धार्मिक कट्टरपन्थियों ने हुल्लड़ किया था। ऐसे में समझ में नहीं आता है कि उन्मादी, कट्टरपन्थी "दलितवादी", अम्बेडकरवादी संगठनों और धार्मिक फ़ासीवादी कट्टरपन्थी संगठनों में कैसे फ़र्क़ किया जाये?

इस पूरी स्थिति से क्या नतीजे निकलते हैं? पहला नतीजा यह है कि पहचान की राजनीति करने वाले तमाम दलितवादी संगठनों और अम्बेडकरवादी संगठनों के पास वास्तविक दलित मुद्दों पर संघर्ष करने के लिए वक़्त नहीं है और न ही उनका ऐसा कोई इरादा है। उनका पूरा वक़्त, ध्यान और ऊर्जा अम्बेडकर की मूर्ति, चित्र, कार्टून आदि के मसलों पर ख़र्च हो जाता है, और जो बचता है वह आरक्षण के नाम पर फेंके जा रहे छोटे-से टुकड़े के लिए शोर मचाने में ख़र्च हो जाता है। जबकि आरक्षण के पिछले छह दशकों के अनुभव ने दिखला दिया है कि इससे दलितों को कुछ ख़ास हासिल नहीं होने वाला है। अगर आरक्षण की माँग कोई मध्यवर्ती जनवादी माँग भी बन पाती जो कि क्रान्तिकारी परियोजना को आगे बढ़ाने में कहीं मददगार होती, या इसका आंशिक तौर पर सुधार करने वाला भी कोई चरित्र होता तो इसका समर्थन किया जा सकता था। लेकिन अगर इतने वर्ष बीतने के बाद पूरी दलित आबादी में से महज़ तीन से चार फ़ीसदी आबादी को नौकरियाँ मिली हैं, तो सोचने की बात है कि आरक्षण को और कितने वर्षों तक जारी रखना होगा ताकि सभी दलितों को बेहतर जीवन और आजीविका मिल सके? दूसरी बात, अब आरक्षण का लाभ ऊपर की उसी तीन-चार प्रतिशत दलित आबादी को मिलता है। जो पहले से नौकरियाँ पा चुके हैं उन्हीं के बेटे-बेटियों को आरक्षण का लाभ मिलता रहता है और वही सबसे ज़ोर से इसके बारे में चिल्लाते हैं। अगर दलितों की ग़रीब और निम्न मध्यमवर्गीय आबादी की बात करें तो उसे इस आरक्षण से कुछ भी हासिल नहीं होता। निश्चित तौर पर, जो लोग सवर्ण पूर्वाग्रह से आरक्षण का विरोध करते हैं और योग्यता का तर्क देते हैं, उनके ख़िलाफ़ भी उतने ही तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लेकिन दोनों प्रकार के तर्कों से एक ही बात सिद्ध होती है – आरक्षण का मुद्दा एक ग़ैर-मुद्दा है, जिसे शासक वर्ग ने जानबूझकर एक मुद्दा बना रखा है। और इसमें वह काफ़ी कामयाब है क्योंकि न सिर्फ़ दलित पहचान की राजनीति करने वाले संगठन इस मुद्दे पर ख़र्च हो जाते हैं बल्कि अधिकांश

(पेज 13 पर जारी)

जॉन रीड : कम्युनिज़्म के लक्ष्य को समर्पित बुद्धिजीवी

"**मैं** दुनिया के मज़दूरों को निस्संकोच सलाह दूँगा कि वे इस पुस्तक को पढ़ें। यह एक ऐसी किताब है, जिसके लिए मैं चाहूँगा कि वह लाखों-करोड़ों प्रतियों में प्रकाशित हो और इसका सभी भाषाओं में अनुवाद किया जाये। सर्वहारा क्रान्ति तथा सर्वहारा अधिनायकत्व वास्तव में क्या है, इसको समझने के लिए जो घटनाएँ इतनी महत्वपूर्ण हैं, उनका इस पुस्तक में सच्चा और जीता-जागता चित्र दिया गया है।"

ये शब्द लेनिन के हैं और वे यहाँ जॉन रीड की पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' के सन्दर्भ में बात कर रहे हैं। यह पुस्तक अक्टूबर क्रान्ति के शुरुआती दिनों का एक सजीव तथा शक्तिशाली वर्णन प्रस्तुत करती है। लेकिन यह पुस्तक किसी तटस्थ या उदासीन प्रेक्षक द्वारा घटनाओं का ब्योरा भर नहीं है, बल्कि स्वयं एक जुझारू कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी द्वारा उस जनव्यापी क्रान्ति का विस्तृत वर्णन है जो मानव इतिहास में एक मील का पत्थर है। जनता के पक्ष को चुनने वाले इस क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी ने अपना पूरा जीवन क्रान्ति और समाजवाद की सेवा में होम कर दिया।

जॉन रीड वैसे तो पेशे से पत्रकार थे, लेकिन वे शुरू से ही एक ऐसे पत्रकार रहे जिनकी जनता के संघर्षों से नज़दीकी थी। उनका जन्म 22 अक्तूबर 1887 में अमेरिका के ऑरेगॉन प्रान्त के पोर्टलैण्ड शहर में हुआ था। रीड का जन्म एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था, हालाँकि उनके पिता चार्ल्स रीड स्वयं एक सुधारवादी थे जो ऑरेगॉन प्रान्त में राजनीतिक और आर्थिक भ्रष्टाचार उन्मूलन की मुहिम से जुड़े थे। 1906 में अपनी स्नातक की शिक्षा के लिए जॉन रीड ने हार्वर्ड कॉलेज में दाख़िला लिया। यही वह समय था जब वे 'सोशलिस्ट क्लब' नामक एक समाजवादी मंच की गतिविधियों से जुड़े। कॉलेज की पढ़ाई ख़त्म होने तक रीड पत्रकार बनने का मन बना चुके थे। इसके लिए वे न्यूयॉर्क में ही बस गये जो उस समय पत्रकारिता का केन्द्र माना जाता था। पत्रकारिता के अपने पूरे जीवन में रीड की दिलचस्पी हर-हमेशा मज़दूरों-किसानों और तमाम मेहनतकशों के संघर्षों में रही, चाहे वह पीटरसन में सूती मिल मज़दूरों की हड़ताल हो या फिर कोलोराडो के खनन क्षेत्र में खनन मज़दूरों का संघर्ष हो, रीड ने इन सभी घटनाओं को एक पत्रकार के रूप में महज़ दर्ज ही नहीं किया, बल्कि जनता का पक्ष चुनने वाले एक सक्रिय बुद्धिजीवी की भूमिका भी अदा की। वे इन तमाम संघर्षों में मज़दूरों के हक़ में बोले और सत्ताधारियों से सीधे-सीधे टकराये। इसकी क़ीमत उन्हें जेल जाकर भी चुकानी पड़ी।

1913 में उन्हें 'मेट्रोपोलिटन' पत्रिका द्वारा मेक्सिको की क्रान्ति की रिपोर्टिंग करने के लिए मेक्सिको भेजा गया। पांचो विला के नेतृत्व में किसानों की बग़ावत के न सिर्फ़ वे प्रत्यक्षदर्शी थे, बल्कि इसके हिमायती

भी थे। मेक्सिको में अमेरिकी हस्तक्षेप का उन्होंने पुरज़ोर विरोध भी किया। इसके बाद 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान बतौर युद्ध संवाददाता वे इटली गये। रीड ने अपने अनुभव से जाना कि यह युद्ध सिर्फ़ और सिर्फ़ साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का नतीजा है और जनता को इससे कुछ नहीं मिल सकता। इस विषय में उन्होंने सितम्बर 1914 में 'व्यापारियों का युद्ध' नाम से एक लेख भी लिखा, जिसमें रीड ने स्पष्ट शब्दों में कहा "यह युद्ध हमारा युद्ध नहीं है।" साम्राज्यवादी युद्ध के बारे में उनके इन विचारों के चलते न्यूयॉर्क की एक अदालत ने उन पर राजद्रोह का अभियोग भी लगाया। इसके बावजूद रीड अपने विचारों पर अडिग रहे।

लेकिन जो घटना रीड के जीवन का मोड़ बिन्दु साबित हुई वह थी 1917 की सोवियत क्रान्ति। 1917 की गर्मियों मे रीड अपनी जीवन साथी लुई ब्रायण्ट के साथ रूस पहुँचे। यही वह समय था जब रूस में मज़दूर क्रान्ति की ज़मीन परिपक्व हो रही थी। वहाँ पहुँचते ही रीड को यह समझने में देर नहीं लगी कि सर्वहारा द्वारा सत्ता पर अधिकार तर्कसंगत भी है और अनिवार्य भी। इसलिए जब रूसी जनसाधारण – मज़दूर तथा किसान – लेनिन की बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में क्रान्तिकारी संघर्ष में आगे बढ़ रहे थे तब रीड भी उनके साथ क़दम से क़दम मिलाकर चल रहे थे। वे उस वक़्त होने वाली तमाम घटनाओं के चश्मदीद गवाह थे। यहाँ तक कि जब शीत प्रासाद पर धावा बोला जा रहा था तो उस वक़्त भी रीड वहाँ मौजूद थे। क्रान्ति के इन्हीं शुरुआती दिनों का विवरण अक्तूबर क्रान्ति पर उनकी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' में मिलता है। इस पुस्तक के प्रकाशन की प्रक्रिया भी काफ़ी उथल-पुथल भरी रही। छह बार तो इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को चुराने की मंशा से प्रकाशक के कार्यालय का ताला तोड़ा गया। यह अप्रत्याशित था भी नहीं। लोकतन्त्र में अटूट आस्था के अपने तमाम खोखले दावों के बावजूद अमेरिकी शासक वर्ग अपनी असुरक्षा नहीं छिपा पा रहा था। वह क़तई नहीं चाहता था कि ऐसी कोई भी पुस्तक छपे जो अक्तूबर क्रान्ति के लक्ष्यों और विचारों को अमेरिकी जनता तक पहुँचाने का काम करे और जिसके लेखक का जीवन इस क्रान्ति से सम्बद्ध हो। अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद अमेरिकी हुक्मरान नाकाम रहे। इस पुस्तक को मिली अपार सफलता इसी बात का सबूत है।

अक्तूबर क्रान्ति ने रीड के जीवन पर अमिट छाप छोड़ी। अमेरिका वापस लौटने पर रीड पूरी तरह से समाजवाद के प्रचार-प्रसार में जुट गये। इसी उद्देश्य से 1919 में बनी 'कम्युनिस्ट लेबर पार्टी' की स्थापना में रीड ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1919 के बाद लिखे गये तमाम लेखों में रीड ने सर्वहारा अधिनायकत्व की पुरज़ोर वक़ालत और हिफ़ाज़त की। लेकिन रीड अपने इन प्रयासों को और आगे बढ़ाते, इससे पहले ही 17 अक्तूबर 1920 को टाइफ़स बुख़ार के कारण उनकी मृत्यु हो गयी। अत्यधिक परिश्रम के कारण पहले ही उनका शरीर काफ़ी कमज़ोर हो चुका था। मृत्यु के बाद रीड को मास्को के लाल चौक में क्रेमलिन की दीवार के साये में दफ़नाया गया। रीड इस सम्मान के सर्वथा योग्य थे। वे केवल एक जनपक्षधर पत्रकार नहीं थे। वे एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ता थे जिन्होने अपना पूरा जीवन समाजवाद के लक्ष्य को समर्पित किया।

• शिवानी

दलित मुक्ति का रास्ता मज़दूर इंक़लाब से होकर जाता है...

(पेज 12 से आगे)

क्रान्तिकारी वामपन्थी संगठन भी दलित आबादी को तुष्टिकरण के ज़रिये अपनी ओर खींचने के प्रलोभन में इस ग़ैर-मुद्दे पर होने वाले ध्रुवीकरण के शिकार हो जाते हैं। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि दलित अस्मिता की राजनीति करने वाले तमाम क़िस्म के संगठनों की सारी ताक़त और समय अम्बेडकर के प्रतीकों और बुतों की पूजा, रक्षण और संरक्षण और आरक्षण के ग़ैर-मुद्दे पर कवायद करने में ही ख़र्च हो जाता है।

लेकिन इस पूरी खोखली प्रतीकवादी राजनीति का चरित्र दलित मज़दूर वर्ग के सामने आज के समय में बिल्कुल साफ़ हो जाना चाहिए क्योंकि दलित मज़दूरों के नरसंहार, उत्पीड़न, उनक आजीविका से जुड़े ठोस बुनियादी मसले उनके लिए या तो मुद्दे ही नहीं हैं, या फिर महज़ रस्म-अदायगी के मुद्दे हैं। वास्तव में, इसका कारण आज दलित अस्मिता की राजनीति करने वाले अम्बेडकरवादी संगठनों के वर्ग चरित्र में निहित है। ये संगठन अधिकांशत: शहरी मध्यवर्गीय दलितों के संगठन हैं। ये उन्हीं की नुमाइन्दगी करते हैं। आरक्षण के ज़रिये रोज़गार और शिक्षा के आकाशकुसुम की अभिलाषा में शहरी निम्न मध्यवर्गीय और ग़रीब दलितों का एक हिस्सा भी इनके पीछे चलता रहता है। लेकिन वास्तव में ये उनके हितों की नुमाइन्दगी नहीं करते। ये तमाम प्रतीकवादी मसलों पर और आरक्षण के मुद्दे पर लड़ते हैं। इन दोनों का ही लाभ वास्तव में ऊपर के 4-5 प्रतिशत शहरी खाते-पीते दलितों को ही मिलना है जिनके वर्ग हित आज बहुसंख्यक दलित मेहनतकश आबादी से न सिर्फ़ पूरी तरह अलग हो चुके हैं, बल्कि उसके विरोध में खड़े हैं। वे सभी दलितों के हितों की बात ज़रूर करते हैं, लेकिन उनका लक्ष्य अपने वर्ग की सेवा करना है। इसलिए दलित मेहनतकश आबादी को समझना होगा कि दलित पहचान की राजनीति करने वाले संगठनों की राजनीति की असलियत क्या है, चाहे वे बसपा, लोक जनशक्ति पार्टी जैसी चुनावी पार्टियाँ हों, या फिर रिपब्लिकन पैंथर्स जैसे ग़ैर-संसदीय संगठन। यहाँ ईमानदारी और बेईमानी की बात करना बेकार है। असली चीज़ वर्ग चरित्र है और उसी के आधार पर दलित पहचान की राजनीति करने वाले सभी संगठनों की जाँच की जानी चाहिए। और अगर हम इन संगठनों के काडर, नीतियों और नेतृत्व के चरित्र का वर्ग विश्लेषण करते हैं तो तुरन्त ही इनकी असलियत साफ़ हो जाती है।

आज देश की मज़दूर आबादी का क़रीब 40 प्रतिशत हिस्सा दलित जातियों से आता है। ये हिस्सा मज़दूर वर्ग का भी सबसे ग़रीब, दमित और उत्पीड़ित हिस्सा है। यही कारण है कि मौजूदा सत्ता-व्यवस्था के ख़िलाफ़ इसमें सबसे भयंकर गुस्सा है। इस आबादी को संगठित करने की आज क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को ज़रूरत है, लेकिन जाति के जुमले पर नहीं बल्कि वर्ग के मुद्दे पर। यह आबादी ही दलित उत्पीड़न के सबसे नग्न, घृणित और जुगुप्सित रूपों का शिकार है। नरसंहारों में शहरी दलित उच्च मध्यवर्ग नहीं मरता है, ग़रीब मेहनतकश दलित मरते हैं। इस दलित उत्पीड़न का एक वर्ग चरित्र भी है। इसे समझे बग़ैर इस दलित उत्पीड़न का कारगर विरोध नहीं हो सकता है। ग़रीब दलित आबादी पूँजीवादी राजसत्ता के दोनों क़िस्म के शोषण और उत्पीड़न का शिकार है – आर्थिक और साथ ही जातिगत। यही वह हिस्सा है जो संगठित होकर रैडिकल तरीक़े से दलित मुक्ति के साथ लड़ सकता है। यही वह हिस्सा है जिसे सर्वहारा क्रान्ति की परियोजना पर जोड़ने और गोलबन्द-संगठित करने की ज़रूरत है। यही वह हिस्सा है जो अपने जीवन के अनुभव से वर्ग के यथार्थ को समझता है और जानता है कि उसके दर्द और शहरी उच्च मध्यवर्गीय दलित के दर्द में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है और वास्तव में सामाजिक पदानुक्रम में ऊपर बैठे इस वर्ग का उसके साथ कुछ भी साझा नहीं है, सिवाय खोखले जुमलों और प्रतीकवाद के। और दलित मज़दूर के बीच इन खोखले जुमलों और प्रतीकवाद के ख़िलाफ़, अस्मितावादी राजनीति के ख़िलाफ़ सतत्, सघन और व्यापक प्रचार चलाया जाना चाहिए। वर्ग परिप्रेक्ष्य पर खड़े होकर ही दलित प्रश्न का समाधान सम्भव है। वर्ग-निरपेक्ष नज़रिये से दलित प्रश्न को देखना अन्ततः प्रतीकवाद की तरफ़ ले जाता है और वास्तव में दलितों से उनकी मुक्ति का उपकरण और अभिकरण छीन लेता है। दलित प्रश्न के स्वायत्त चरित्र को समझते हुए भी यदि कोई इस समस्या के समाधान की बात करता है, तो अन्तत: उसे इस पूरे प्रश्न को भी वर्ग दृष्टिकोण से देखना होगा। दलित मुक्ति की पूरी ऐतिहासिक परियोजना वास्तव में मज़दूर वर्ग की मुक्ति और फिर पूरी मानवता की मुक्ति की कम्युनिस्ट परियोजना के साथ ही मुकाम तक पहुँच सकती है। जिस समाज में आर्थिक समानता मौजूद नहीं होगी, उसमें सामाजिक और राजनीतिक समानता की सारी बातें अन्त में व्यर्थ ही सिद्ध होंगी। एक आर्थिक और राजनीतिक रूप से न्यायसंगत व्यवस्था ही सामाजिक न्याय के प्रश्न को हल कर सकती है। हमें अगड़ों-पिछड़ों की, दलित-सवर्ण की और ऊँचे-नीचे की समानता या समान अवसर की बात नहीं करनी होगी; हमें इन बँटवारों को ही हमेशा के लिए ख़त्म करने के लक्ष्य पर काम करना होगा। यह लक्ष्य सिर्फ़ एक रास्ते से ही हासिल किया जा सकता है – मज़दूर इन्क़लाब के ज़रिये समाजवादी व्यवस्था और मज़दूर सत्ता की स्थापना के रास्ते। जिस दलित आबादी का 97 फ़ीसदी आज भी खेतिहर, शहरी औद्योगिक मज़दूर है वह मज़दूर क्रान्ति से ही मुक्त हो सकता है। इसे सरल और सहज तर्क से समझा जा सकता है, किसी गूढ़, जटिल दार्शनिक या राजनीतिक शब्दजाल की ज़रूरत नहीं है। आज पूरी दलित अस्मितावादी राजनीति पूँजीवादी व्यवस्था की ही सेवा करती है। ग़ैर-मुद्दों, प्रतीकवाद और रस्मवाद पर केन्द्रित अम्बेडकरवादी राजनीति आज कोई वास्तविक हक़ दिला ही नहीं सकती है क्योंकि यह वास्तविक ठोस मुद्दे उठाती ही नहीं है। उल्टे यह मज़दूर आबादी की एकता स्थापित करने की प्रक्रिया को कमज़ोर करती है और इस रूप में श्रम की ताक़त को कमज़ोर बनाती है और पूँजी की ताक़त को मज़बूत। इस राजनीति को हर क़दम पर बेनक़ाब करने की ज़रूरत है और दलित मुक्ति की एक ठोस, वैज्ञानिक, वास्तविक और वैज्ञानिक परियोजना पेश करने की ज़रूरत है।

अघोषित आपातकाल की तेज़ होती आहटें!

(पेज 1 से आगे)

2009 में संशोधन करके इसे "आतंकवाद" से लड़ने के लिए नये धारदार दाँतों और नाख़ूनों (सख़्त प्रावधानों) से लैस किया गया था। इसके तहत पुलिस किसी को भी महज़ शक के आधार पर गिरफ़्तार कर सकती है और आरोपियों को 180 दिन तक पुलिस हिरासत में रख सकती है। इस क़ानून ने जाँच एजेंसियों और पुलिस अधिकारियों के हाथ में ऐसे अधिकार दे दिये हैं जिनके दुरुपयोग की पूरी आशंका है। यह बुनियादी नागरिक स्वतंत्रताओं पर हमला करता है क्योंकि यह राज्यसत्ता के किसी भी तरीक़े के विरोध और वैचारिक मतभेदों को भी "अपराध" की श्रेणी में रख देता है। इसमें "आतंकवाद" और "ग़ैरक़ानूनी" की परिभाषा इस ढंग से दी गयी है जिससे यथास्थिति को चुनौती देने वाले किसी भी व्यक्ति या संगठन को इसके दायरे में लाकर प्रताड़ित किया जा सकता है।

देश के अलग-अलग इलाक़ों में चल रहे जनान्दोलनों पर सरकारी दमन भी तेज़ होता गया है और पुलिस व सशस्त्र बलों को लोगों पर बेरोकटोक लाठियाँ-गोलियाँ बरसाने की खुली छूट दे दी गयी है। बंगाल से लेकर महाराष्ट्र तक और कश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक इन मामलों में सभी पार्टियों और सभी राज्य सरकारों की केन्द्र के साथ पूरी सहमति है।

दरअसल, पिछले दो दशकों से जारी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के विनाशकारी नतीजों को झेल रहे जनसमुदाय में इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ गुस्सा तेज़ी से बढ़ रहा है। पिछले कई वर्षों से आसमान छू रही महँगाई ने आम लोगों की ज़िन्दगी दूभर कर दी है। रही-सही कोर-कसर एक के बाद एक फूट रहे घोटालों और सिर से पाँव तक भ्रष्टाचार में डूबी नेताशाही-नौकरशाही ने पूरी कर दी है। दिनोदिन गहराता पूँजीवादी आर्थिक संकट लोगों पर तकलीफ़ों और बदहाली का और भी ज़्यादा कहर बरपा करेगा इस बात को शासक वर्ग भी अच्छी तरह समझ रहे हैं। आर्थिक नीतियों के नतीजे नंगे रूप में सामने आने के बाद सामाजिक विस्फोट की जो ज़मीन तैयार हो रही है, उसके भविष्य को भाँपते हुए शासक वर्ग अपने दमनतन्त्र को और भी निरंकुश बनाने में जुट गये हैं। इसमें ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं कि नवउदारवादी नीतियों के दौर में पूँजीवादी जनवाद और फ़ासीवाद के बीच की विभाजक रेखाएँ भी धुँधली पड़ती जा रही हैं। भारत में भी पूँजीवादी जनवाद का 'स्पेस' लगातार सिकुड़ता जा रहा है और क़ानून-व्यवस्था बनाये रखने के नाम पर पुलिस प्रशासन की भूमिका बढ़ती जा रही है।

एक व्यापक आधार वाला जनवादी अधिकार आन्दोलन खड़ा करना वक़्त की माँग है!

आने वाले दिनों के अशनि संकेत इस ज़रूरत को और भी आसन्न बना रहे हैं कि जनवादी अधिकार आन्दोलन को सघन एवं संगठित, सतत एवं सुदीर्घ, प्रचार और उद्वेलन की कार्रवाई के द्वारा एक व्यापक जनान्दोलन का स्वरूप दिया जाये। प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों के सीमित दायरे से बाहर लाकर इसके सामाजिक आधार का विस्तार करना होगा। ऐसा किये बिना देश के इस या उस कोने की जनता पर होने वाले राजकीय दमन और राजकीय आतंक की घटनाओं को व्यापक जनसमुदाय की निगाहों में नहीं लाया जा सकेगा और उन्हें व्यापक जन-प्रतिरोध का मुद्दा नहीं बनाया जा सकेगा। जनवादी अधिकार संगठनों की कुछ रिपोर्टों के अंश यहाँ-वहाँ छप तो जायेंगे लेकिन बहुसंख्यक आबादी मुद्दे को वैसे ही देखती-समझती रहेगी जैसे सरकार और मुख्य धारा की मीडिया उसे प्रस्तुत करते हैं। राजधानियों में कुछ प्रतीकात्मक विरोध प्रदर्शन जैसे अनुष्ठानों से अब काम नहीं चलने वाला!

बेशक, राजनीतिक आन्दोलनों के दमन का विरोध, राजनीतिक बन्दियों के जनवादी अधिकारों के सवाल उठाने तथा फ़र्ज़ी मुक़दमों, फ़र्ज़ी मुठभेड़ों, हिरासत में टॉर्चर और काले क़ानूनों का विरोध करने का अनिवार्य कार्य तो जनवादी अधिकार संगठनों को करते ही रहना होगा, लेकिन वे इसी चौहद्दी में बँधे नहीं रह सकते। जनवादी अधिकार आन्दोलन को समूची आम जनता की नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों की लड़ाई को अपने एजेण्डे पर केन्द्रीय स्थान देना होगा। केवल तभी वह एक व्यापक जनान्दोलन की शक्ल ले पायेगा।

इसमें दो राय नहीं कि जनवादी अधिकार आन्दोलन के कार्यक्रम में व्यापक जनसमुदाय के सभी अधिकारों को शामिल करके उसे एक व्यापक, जुझारू जनान्दोलन के रूप में विकसित करना किसी घटना पर तत्काल कोई साझा मोर्चा बना लेने जैसी आसान प्रक्रिया नहीं हो सकती। यह एक लम्बी चलने वाली प्रक्रिया होगी और बहुत मेहनत तथा धीरज के साथ काम करने की माँग करेगी। लेकिन इस प्रक्रिया के साथ-साथ, कुछ फ़ौरी कामों को जल्दी हाथ में लिया जा सकता है। देश में आज दर्जनों छोटे-बड़े जनवादी अधिकार संगठन मौजूद हैं। राजकीय दमन-उत्पीड़न, काले क़ानूनों और धार्मिक कट्टरपन्थियों की गतिविधियों के विरुद्ध वे लगातार आवाज़ उठाते भी रहते हैं। नवउदारवादी नीतियों पर अमल के वर्तमान दौर में, राज्यसत्ता का दमनकारी चरित्र ज्यादा से ज्यादा नंगा होता जा रहा है। ऐसे में, फ़ौरी तौर पर यह बेहद ज़रूरी है कि जनान्दोलनों के दमन, राजद्रोह के क़ानून, ए.एफ़.एस.पी.ए., छत्तीसगढ़ विशेष जनसुरक्षा अधिनियम आदि विविध काले क़ानून तथा बड़े पैमाने पर विस्थापन और बेदख़ली आदि मुद्दों पर सभी जनवादी अधिकार संगठन एक साथ एकजुट और समन्वित आवाज़ उठायें। जनवादी अधिकार संगठनों के बीच कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हो सकते हैं, उनकी सक्रियताओं के अलग-अलग दायरे हो सकते हैं और विशिष्ट स्थानीय मुद्दों को लेकर भी कुछ स्थानीय जनवादी अधिकार मंच भी बनाये जा सकते हैं। लेकिन न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर एक देशव्यापी संयुक्त मोर्चा भी अवश्य होना चाहिए।

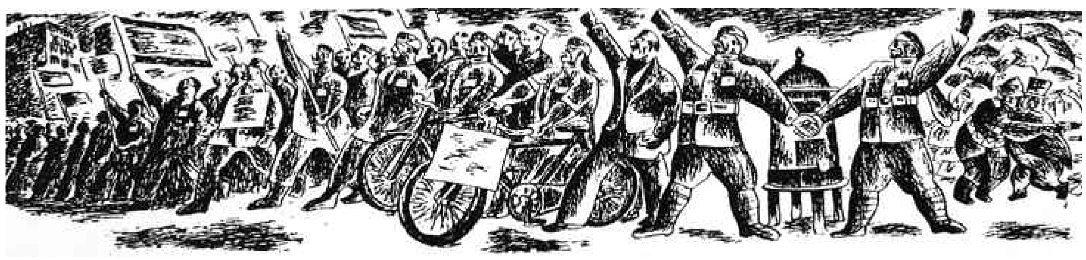

मुनाफ़े के लिए इन्सानों की जान से खेलती दवा कम्पनियाँ

(पेज 16 से आगे)

दवाओं के विज्ञापन और डॉक्टरों पर होने वाले खर्च को भी जोड़ दीजिये, जो शायद बाकी सभी खर्चों से अधिक होता है। इस सबकी कीमत भी मरीज़ से ही वसूली जाती है। भारत में दवा उद्योग का कुल घरेलू बाज़ार लगभग 60,000 करोड़ रुपये सालाना का है जिसमें से 51,843 करोड़ रुपये की दवाएँ केमिस्ट की दुकानों से बिकती हैं। सरकार द्वारा जनता के पैसे से खड़ी की गयी स्वास्थ्य सेवाओं के लम्बे-चौड़े ढाँचे के बावजूद बहिर्रोगी इलाज का 80 प्रतिशत निजी सेक्टर में होता है और इसका 71 प्रतिशत दवाओं की ख़रीद पर खर्च होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि दवा कम्पनियाँ जेनेरिक दवाओं के अलग-अलग ब्राण्ड नाम रखकर उन्हें महँगे दामों पर बेचती हैं। डॉक्टर भी सस्ते विकल्प होने के बावजूद महँगी ब्राण्डेड दवाएँ ही नुस्खे में लिखते हैं और ग़रीब मरीज़ों के पास इन्हीं दवाओं को ख़रीदने के अलावा कोई चारा नहीं होता, चाहे उन्हें अपना घर-द्वार ही क्यों न बेचना पड़ जाये। बहुतेरे ग़रीब मरीज़ तो महँगी दवाओं के इन्तज़ार में दम तोड़ जाते हैं।

दवा कम्पनियों को खुला सरकारी संरक्षण

कहने को तो सरकार ने महँगी दवाओं पर नियन्त्रण करने के लिए कई क़ानून बना रखे हैं। 1997 में बने राष्ट्रीय फार्मास्यूटिकल मूल्यनिर्धारण प्राधिकरण (एनपीपीए) का मानना है कि दवाओं की बेवजह ऊँची कीमत एक बड़ी समस्या है लेकिन आज तक प्राधिकरण ने इसे रोकने के लिए कुछ ख़ास नहीं किया है। जून 2010 तक एनपीपीए ने दवा कम्पनियों को कुल मिलाकर 762 नोटिस जारी किये थे जिनमें कुल 2190.48 करोड़ रुपये का जुर्माना लगाया गया था। लेकिन इसमें से केवल 199.84 करोड़ यानी महज़ 9.1 प्रतिशत जुर्माने की ही वसूली हो पायी। दवाओं के मूल्य नियन्त्रण क़ानून का मकसद था कि जीवनरक्षक दवाएँ लोगों को सस्ते दामों पर उपलब्ध हो सकें। लेकिन दवा कम्पनियों के दबाव में मूल्य नियन्त्रण क़ानून के दायरे में आने वाली दवाओं की संख्या भी लगातार कम होती गयी है। 1979 में कुल 347 दवाएँ इस क़ानून के दायरे में आती थीं जो 1987 तक घटकर 142 और 1995 तक 76 रह गयीं। इस समय केवल 74 दवाएँ इसके तहत रह गयी हैं। इनमें से भी 24 दवाएँ पुरानी पड़ चुकी हैं और उनकी जगह नयी दवाओं ने ले ली है जो मूल्य नियन्त्रण क़ानून के दायरे से बाहर हैं। इन 74 में से भी केवल 63 दवाओं के लिए अधिसूचना जारी की गयी है जबकि अत्यावश्यक दवाओं की राष्ट्रीय सूची (एनएलईएम) में 354 दवाएँ हैं। हालाँकि इस सूची में भी कैंसर जैसे रोगों की दवाएँ अब तक शामिल नहीं की गई हैं।

सरकार की नाक के नीचे कम्पनियाँ तमाम तरह के तिकड़मों से मूल्य नियन्त्रण वाली दवाओं के भी दाम बढ़ाती रहती हैं। इसका सबसे आसान तरीका है मूल दवा में एक या अधिक तत्व और जोड़कर नये नाम से बाज़ार में उतार देना। कुछ मामलों में कम्पनियाँ दामों में भारी बढ़ोत्तरी को सही ठहराने के लिए दवाओं में कुछ ऐसे तत्व जोड़ देती हैं जिनकी चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कोई ज़रूरत ही नहीं होती। जैसे पेट के संक्रमण की आम दवा नॉरफ्लॉक्सॉसिन और डॉक्सिसिलीन की अधिकतम मूल्य सीमा दस रुपये प्रति दस गोली है, लेकिन ब्राण्डेड नॉरफ्लॉक्स और डॉक्सी-1 लगभग 48 रुपये प्रति दस गोली पर बिकती हैं। ऐसी दवाओं की सूची बहुत लम्बी है।

भारत में कई ऐसी दवाएँ भी खुलेआम बिकती हैं जिनपर विदेशों में पाबन्दी लगी हुई है। जैसे निमेसुलाइड पर अमेरिका सहित कई देशों में रोक लगी हुई है लेकिन भारत में निजी डॉक्टरों से लेकर सरकारी अस्पतालों तक में यह दवा बुखार आदि के लिए धड़ल्ले से दी जाती है। बच्चों के लिए यह ख़ासकर नुकसानदेह होती है। सिप्ला कम्पनी द्वारा बनायी गयी निमेसुलाइड के निसिप नामक ब्राण्ड को खुदरा विक्रेता 1.88 रुपया प्रति दस गोली की दर से ख़रीदते हैं। यानी इस दर पर भी सिप्ला को मुनाफ़ा हो रहा है। बाज़ार में यही गोली 30 रुपये के भाव से बिकती है।

अगले अंक में हम दवाओं के इस घिनौने कारोबार के कई और पहलुओं को उजागर करेंगे। शोध के नाम पर दवाओं की ऊँची कीमत रखने के झूठे तर्क, दवा उद्योग पर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बढ़ते शिकंजे और इन कम्पनियों द्वारा अपनाये जाने वाले अमानवीय तौर-तरीकों का पर्दाफ़ाश करने के साथ ही हम यह भी बतायेंगे कि इस व्यवस्था के भीतर भी दवाओं की कीमतें कैसे कम की जा सकती हैं। मगर तमाम पूँजीवादी सरकारें जनता के हितों की दुहाई देते हुए वास्तव में दवा कम्पनियों के हाथों जनता के स्वास्थ्य को गिरवी रखने में मददगार बनी हुई हैं।

● सत्यप्रकाश

डॉक्टर के नाम एक मज़दूर का ख़त

जर्मनी के महान कवि **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** की कविता

हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं
जब बीमार पड़ते हैं
तो बताया जाता है
सिर्फ़ तुम्हीं (डॉक्टर) हमें बचा सकते हो
जनता के पैसे से बने
बड़े-बड़े मेडिकल कॉलेजों में
खूब सारा पैसा खर्च करके
दस साल तक
डॉक्टरी की शिक्षा पायी है तुमने
तब तो तुम
हमें अवश्य अच्छा कर सकोगे।
क्या सचमुच तुम हमें स्वस्थ
कर सकते हो।
तुम्हारे पास आते हैं जब
बदन पर बचे, चिथड़े खींचकर
कान लगाकर सुनते हो तुम
हमारे नंगे जिस्मों की आवाज़
खोजते हो कारण शरीर के भीतर।
पर अगर
एक नज़र शरीर के चिथड़ों पर डालो
तो वे शायद तुम्हें ज़्यादा बता सकेंगे
क्यों घिस-पिट जाते हैं
हमारे शरीर और कपड़े
बस एक ही कारण है दोनों का
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं।

तुम कहते हो कन्धे का दर्द टीसता है
नमी और सीलन की वजह से
डॉक्टर
तुम्हीं बताओ यह सीलन कहाँ से आई?
बहुत ज़्यादा काम
और बहुत कम भोजन ने
दुबला कर दिया है हमें
नुस्खे पर लिखते हो
"और वज़न बढ़ाओ"
यह तो वैसा ही है
दलदली घास से कहो
कि वो खुश्क रहे।

डॉक्टर
तुम्हारे पास कितना वक़्त है
हम जैसों के लिए?
क्या हमें मालूम नहीं
तुम्हारे घर के एक कालीन की कीमत
पाँच हज़ार मरीज़ों से मिली फीस के
बराबर है
बेशक तुम कहोगे
इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं
हमारे घर की दीवार पर
छायी सीलन भी
यही कहानी दोहराती है
हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण
वह एक छोटा-सा शब्द है
जिसे सब जानते हैं
पर कहता कोई नहीं
"वह है ग़रीबी"।

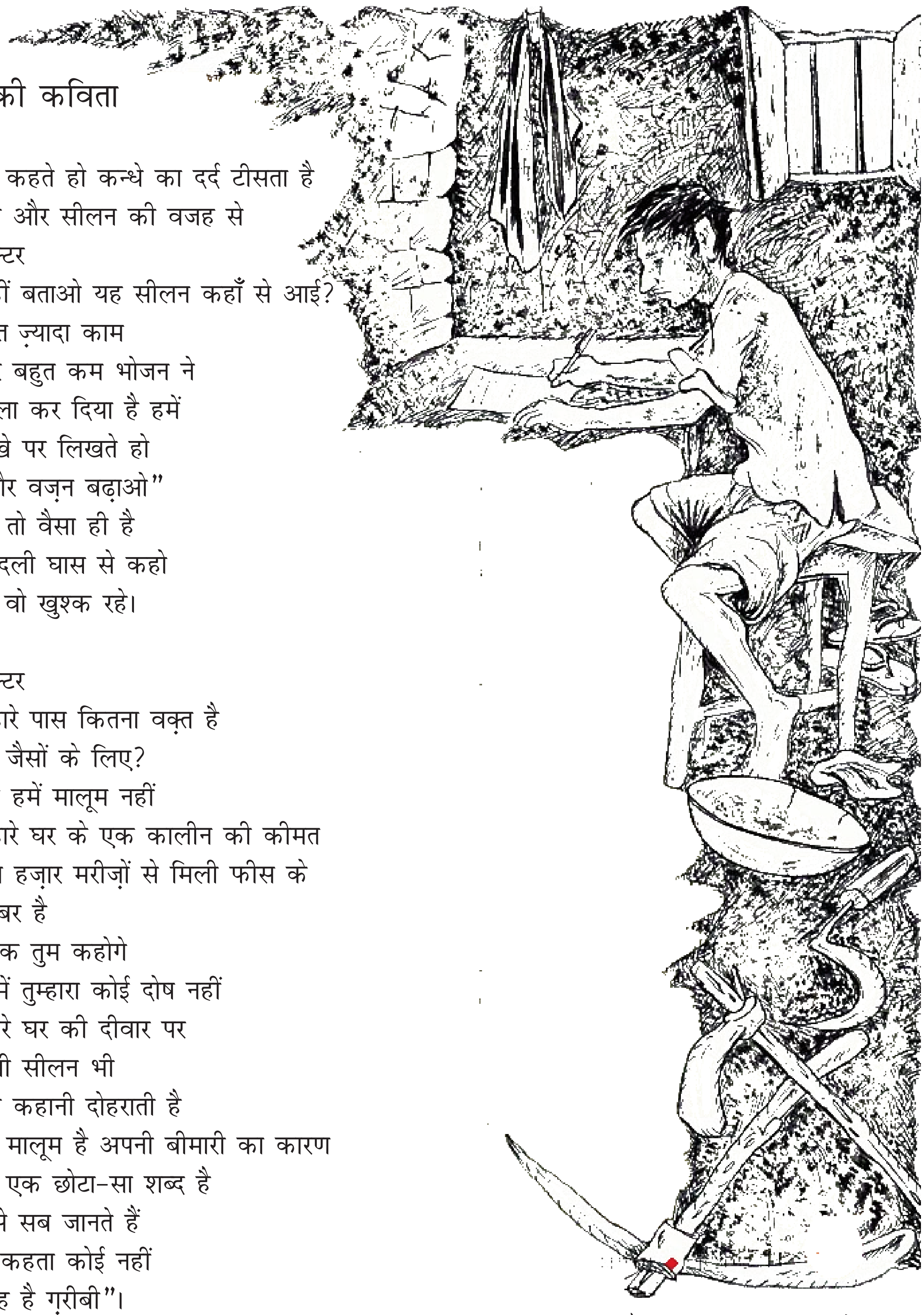

चित्र और कविता का अनुवाद: 'चकमक' से साभार

"विकासमान" बिहार में दम तोड़ते ग़रीबों के बच्चे!

पिछले महीने बिहार के पटना, मुज़फ्फरपुर, गया, वैशाली, सीतामढ़ी सहित कई ज़िलों में दिमाग़ी बुख़ार से 200 से ज़्यादा बच्चों की मौत हो गयी और हज़ारों बच्चे इससे ग्रसित हैं। राज्य सरकार ने दस ज़िलों को दिमाग़ी बुख़ार से प्रभावित बताया है और स्थिति से निपटने के लिए चिकित्सकों की एम्बुलेंस वाली मोबाइल यूनिट तैनात की है जो मरीज़ों की निशानदेही कर उनका प्राथमिक इलाज़ करेगी और जिन बच्चों की स्थिति गम्भीर होगी उन्हें बेहतर इलाज़ के लिए अस्पताल पहुँचाया जायेगा। परन्तु असलियत यह है कि सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था की नालायकी और डॉक्टरों की लापरवाही से बच्चों की जानें जाती रहीं लेकिन "सुशासन की सरकार" ने लापरवाही से हुई मौतों के लिए एक भी अफ़सर को दण्डित नहीं किया, क्योंकि मरने वाले बच्चे किसी अरबपति, आला अफ़सर या नेता-मन्त्री के बच्चे नहीं थे! मालूम हो कि इस बीमारी से बचाव के लिए टीका भी उपलब्ध है और इन मौतों से बच्चों को बचाया जा सकता था अगर बच्चों का टीकाकरण उसी मुस्तैदी से होता जिस मुस्तैदी से बिहार के अफ़सर नीतीश कुमार की "सेवा यात्रा" सफल बनाने में जुटे हुए थे। मीडिया ने इसे बड़ी घटना नहीं बनाया और इसे बड़ी बीमारी से होने वाली सामान्य मौत के रूप में ही दिखाया जिसमें सरकार और डॉक्टरों की थोड़ी खिंचाई करते हुए अंतत: सबको क्लीन चिट दे दी गयी।

लोगों को भी लगा कि सरकार ने थोडी लापरवाही से काम किया लेकिन इस तरह की बड़ी बीमारियों जैसे हैज़ा, मलेरिया, डेंगू, प्लेग आदि में तो बड़ी संख्या में मौत सामान्य चीज़ है। इसी तरह ग़रीब जन गर्मी में लू लगने से, सर्दी में ठण्ड लगने से, कुपोषण से और न जाने कितनी छोटी-छोटी बीमारियों से हर क्षण मर रहे हैं। और इसका कारण वे अक्सर अपने भाग्य को मानते हैं। अर्जेण्टीना के लेखक एदुआर्दो खालियानो का यह कथन एकदम सटीक लगता है – "जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो, वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीज़ों को समझने के लिए लोगों को प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह से व्यवस्था का विरोधी, एक देशद्रोही अथवा विदेशी एजेंट बन जाता है। जंगल के क़ानूनों को पवित्र रूप दे दिया जाता है ताकि पराजित लोग अपनी हालत को नियति समझ बैठें।"

तमाम बीमारियों से होने वाली ये मौतें दरअसल हत्याएँ हैं जो इस व्यवस्था द्वारा की जा रही हैं। यहाँ दवाइयाँ गोदामों में बेकार पड़ी रहती हैं और दूसरी तरफ दवाइयों के बिना मौतें होती रहती हैं। कुपोषण से मौतें हो रही हैं और उधर गोदामों में अनाज सड़ रहा है। सरकार और एन.जी.ओ. बीमारियों के इलाज के लिए कुछ-कुछ कर रहे हैं लेकिन बीमारियाँ कहाँ से पैदा हो रही हैं इसका जवाब इनके पास नहीं है, या जवाब होते हुए भी वे चुप हैं। अगर सभी को साफ़-सुथरा घर, स्वच्छ वातावरण, पौष्टिक आहार उपलब्ध हो तो लोग बहुत कम बीमार पड़ेंगे। मुनाफ़ा आधारित व्यवस्था में दवा कम्पनियाँ तो चाहती ही हैं कि लोग बीमार पड़ें ताकि उनकी दवाएँ ख़ूब बिकें! इसी काम के लिए डॉक्टरों को भी उनका हिस्सा दे दिया जाता है! नेता-मन्त्री, अफ़सर और मीडिया को भी उनका हिस्सा मिल जाता है जिससे काम बेरोकटोक चलता रहे। कुछ टुकड़े तमाम एन.जी.ओ. को व्यवस्था के दामन से ख़ून के धब्बों को साफ़ करने के लिए भी दे दिये जाते हैं।

● **नवीन**

RNI No. UPHIN/2010/36551
डाक पंजीयन: SSP/LW/NP-319/2011-2013
प्रेषित डाकघर: आर.एम.एस. चारबाग, लखनऊ
प्रेषित तिथि: दिनांक 20 प्रत्येक माह

मुनाफ़े के लिए इन्सानों की जान से खेलती दवा कम्पनियाँ

आज विज्ञान की खोजों ने बीमारियों से लड़ना और उनका इलाज बहुत आसान बना दिया है। आज से करीब सौ साल पहले भारत में औसत आयु 30 वर्ष थी जो अब बढ़कर 65 वर्ष हो गयी है। इसमें आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजी गयी नयी दवाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। पहले जो महामारियाँ हज़ारों और लाखों लोगों को मौत की नींद सुला देती थीं अब उनका आसानी से इलाज हो सकता है। लेकिन दूसरी तरफ आज भी हैजा, दस्त, बुखार जैसी मामूली बीमारियों से हज़ारों बच्चों की मौत हो जाती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में मस्तिष्क ज्वर से हर साल हज़ारों बच्चे मरते हैं, जबकि इसका टीका आसानी से उपलब्ध है। देशभर में लाखों लोग बीमारियों के कारण मर जाते हैं या जीवनभर के लिए अपंग हो जाते हैं, इसलिए नहीं कि इन बीमारियों का इलाज सम्भव नहीं है, बल्कि इसलिए कि इलाज का खर्च उठा पाना उनके बस के बाहर है।

इस क्रूर विरोधाभास का कारण पूँजीवादी व्यवस्था है जिसने इन्सान की ज़िन्दगी बचाने वाली दवाओं को भी मुनाफ़े के कारोबार में बदल दिया है। इसने दुनिया के सबसे मानवीय पेशे, चिकित्सक के पेशे को एक निर्मम व्यापार में तब्दील कर दिया है और डॉक्टरों को कसाई बना डाला है। किसी भी मानवीय व्यवस्था में दवाओं और मनुष्यों की सेवा-सुश्रुषा को ख़रीद-बिक्री की चीज़ होना ही नहीं चाहिए मगर पूँजीवाद ने इसे दुनिया के सबसे बेरहम व्यवसायों में से एक बना दिया है। दवाओं का कारोबार आज दुनिया के कुछ सबसे अधिक मुनाफ़ा देने वाले उद्योगों में से एक बन चुका है। आज विज्ञान की उन्नति की बदौलत अधिकांश बीमारियों का इलाज सम्भव है मगर इस ज्ञान पर दैत्याकार दवा कम्पनियों का कब्ज़ा है जो इसका इस्तेमाल इन्सानों की जान बचाने के बजाय उनकी जान से खेलने में करती हैं।

दवाओं की लागत से दसियों गुना अधिक दाम

हाल ही में भारत सरकार के कम्पनी मामलों के मन्त्रालय के एक अध्ययन में सामने आया कि अनेक बड़ी दवा कम्पनियाँ दवाओं के दाम 1100 प्रतिशत तक बढ़ाकर रखती हैं। यह कोई नयी बात नहीं है। बार-बार यह बात उठती रही है कि दवा कम्पनियाँ बेबस रोगियों की कीमत पर लागत से दसियों गुना ज़्यादा दाम रखकर बेहिसाब मुनाफ़ा कमाती हैं। ज़्यादातर कम्पनियाँ दवाओं की लागत के बारे में या तो कोई जानकारी नहीं देतीं या फिर उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर पेश करती हैं। फिर भी उनकी बतायी हुई लागत और बाज़ार में दवा की कीमतों में भारी अन्तर होता है। भारत की कई बड़ी दवा कम्पनियों में काम कर चुके एक युवा वैज्ञानिक ने 'मज़दूर बिगुल' को बताया कि जो दवा की गोली बीस या पच्चीस रुपये की बिकती है, उसके उत्पादन की लागत अक्सर दस या पन्द्रह पैसे से अधिक नहीं होती। अलग-अलग कम्पनियों द्वारा एक ही दवा की कीमत में जितना भारी अन्तर होता है उससे भी इस बात का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। नीचे बॉक्स में दिए गए उदाहरणों से देखा जा सकता है कि एक ही दवा के अलग-अलग ब्राण्ड की कीमतों में 13 गुना से लेकर 16 गुना तक अन्तर होता है जबकि दोनों की उत्पादन लागत में विशेष फ़र्क नहीं होता।

भारत सरकार बीच-बीच में ऐसी रिपोर्टें तो जारी करती रहती है मगर वास्तव में दवा कम्पनियों की इस भयंकर लूट को रोकने के लिए कोई कदम नहीं उठाती। उसे ग़रीब मरीज़ों के स्वास्थ्य से अधिक चिन्ता दवा उद्योग के स्वास्थ्य की रहती है। अगर वाकई उसे ग़रीबों के स्वास्थ्य की चिन्ता होती तो वह ऐसी नीतियाँ नहीं बनाती जो जीवनरक्षक दवाओं की ऊँची कीमतों को सही ठहराती हैं। जैसे, दिल के रोगियों के लिए कारगर दवा एटोर्वेस्टेटिन जो जन-औषधि नामक सरकारी दुकानों में 8.20 रुपये (दस गोलियाँ) की दर से मिलती है, को प्रचारित करने के बजाय 96 रुपये (दस गोलियाँ) की दर से बिकने वाली स्टोरवास दवा की ख़रीद की अनुमति देने का क्या औचित्य है? डॉक्टरों को डायबिटीज़ के लिए एमेरिल का नुस्खा लिखने की इजाज़त क्यों दी जानी चाहिए? एमेरिल का एक पत्ता 118 रुपये का बिकता है, जबकि ग्लिमेपिराइड यानी इसी दवा का जेनेरिक रूप जन-औषधि दुकानों में 11.80 पैसे में उपलब्ध है।

कई वैज्ञानिक और विशेषज्ञ यह साबित कर चुके हैं कि जिस दाम पर बड़ी कम्पनियाँ दवाएँ बेचती हैं उससे बहुत ही कम लागत पर अच्छी गुणवत्ता की दवाएँ बनायी जा सकती हैं। फिर आखिर यह सारा पैसा जाता कहाँ है? दवा कम्पनियों के बेहिसाब मुनाफ़े के अलावा मरीज़ और दवा कम्पनी के बीच बिचौलियों की लम्बी कतार होती है – क्लियरिंग एण्ड फॉरवर्डिंग एजेण्टों या सुपर स्टॉकिस्ट से लेकर डिस्ट्रीब्यूटर/स्टॉकिस्ट से होते हुए दवा की दुकान तक। हर कदम पर कमीशन और बोनस के रूप में मुनाफ़े का बँटवारा होता है। इसमें

(पेज 14 पर जारी)

ऊँचे दाम रखने के लिए दवा कम्पनियों के तर्क झूठे और खोखले हैं

तर्क 1. भारत की दवा कम्पनियों को पर्याप्त मुनाफ़ा नहीं होता इसलिए उन्हें कीमत ऊँची रखनी पड़ती है

सच्चाई :

– सरकारी आँकड़ों के मुताबिक भारत में दुनिया की सबसे अधिक 10,563 दवा कम्पनियाँ हैं। इस धन्धे में भारी मुनाफ़े के कारण ही ऐसा है।

– दवाओं की सरकारी ख़रीद जिस दाम पर होती है वह न्यूनतम खुदरा मूल्य (एमआरपी) से बहुत ही कम होती है। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु सरकार पेट के कीड़ों की दवा अल्बेंडाज़ोल की एक टिकिया 35 पैसे में ख़रीदती है, जबकि इसका एमआरपी छह रुपये से 17 रुपये तक होता है। सरकारी ख़रीद के दाम पर भी कम्पनियों को अच्छा मुनाफ़ा होता है। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि मार्केटिंग और बिचौलियों के कमीशन निकालकर भी कम्पनियाँ कितना अधिक मुनाफ़ा कमाती हैं।

– फोर्ब्स इण्डिया की सूची में देश के चालीस सबसे अमीर लोगों में से दस दवा उद्योग से जुड़े हुए हैं। दवा कम्पनियाँ केमिस्टों को बोनस और डॉक्टरों को रिश्वत देने पर हर साल अरबों रुपये खर्च करती हैं।

तर्क 2. कम्पनियों के बीच बाज़ार में होड़ से दवाओं के दाम कम होते हैं

सच्चाई :

– सबसे पहले हम अलग-अलग ब्राण्ड नामों से बिकने वाली उन्हीं दवाओं के दामों में भारी अन्तर पर नज़र डालते हैं।

– अल्बेंडाज़ोल 400 एमजी – ग्लेनमार्क के ब्राण्ड मिलीबैण्ड की कीमत छह रुपये प्रति गोली है, जबकि ग्लेक्सोस्मिथक्लाइन की ब्राण्ड ज़ेण्टेल की एक गोली 17 रुपये की है, यानी तीन गुने का अन्तर।

– ब्लडप्रेशर और सीने में दर्द की दवा एम्लोडिपाइन के दो ब्राण्ड एम्लोडैक और एम्लोगार्ड के दस गोलियों के पत्ते की कीमत क्रमशः रु 21 और रु. 77 है यानी साढ़े तीन गुना से ज़्यादा का अन्तर।

हृदयरोगियों को दी जाने वाली क्लोपीडोग्रेल की ब्राण्ड नोक्लोट (कैडिला) की कीमत दस गोलियों के लिए रु. 78 है जबकि सनोफ़ी कम्पनी की इसी दवा के ब्राण्ड क्लैविक्स के एक पत्ते की कीमत 1020 रुपये है यानी लगभग 13 गुना का अन्तर।

मानसिक रोगों की एक प्रचलित दवा रिस्पैरिडॉन के दामों में भी ज़बर्दस्त अन्तर है। टोरेण्ट के ब्राण्ड रिस्पीडॉन की कीमत रु. 17 से कम है जबकि जॉनसन एण्ड जॉनसन के ब्राण्ड रिस्पर्डाल की कीमत 270 रुपये है यानी 16 गुना का अन्तर।

ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। सवाल यह है कि बेवजह महँगी बिकने वाली दवाएँ खुद ही बाज़ार से बाहर क्यों नहीं हो जातीं? हकीकत तो यह है कि महँगी दवाओं का कारोबार सस्ती दवाओं से कई गुना ज़्यादा है। क्या इन दवाओं को लिखने वाले डॉक्टर मरीज़ों पर पड़ने वाले बोझ से नावाकिफ़ हैं? दरअसल, इसका कारण यह है कि दवा कम्पनियाँ इन दवाओं के "विशेष गुणों" के बारे में डॉक्टरों को राज़ी करने के लिए भारी रकम खर्च करती हैं। डॉक्टरों को विदेश यात्राएँ कराने और महंगे उपहार देने से लेकर सीधे-सीधे नकद पैसे तक दिये जाते हैं। आख़िरकार यह सारी रकम मरीज़ों से ही वसूली जाती है क्योंकि इसका ख़र्चा भी दवाओं की कीमत में जुड़ जाता है।

तर्क 3. अगर दवाओं पर मूल्य नियन्त्रण होगा तो नयी दवाओं के शोध के लिए कम्पनियों के पास पैसे नहीं होंगे

सच्चाई :

– कम्पनियाँ ग़रीब मरीज़ों से उन दवाओं की भी भारी कीमत वसूलती हैं जिन पर उन्होंने कोई भी मौलिक शोध नहीं किया है। इसके अलावा, हालाँकि मौलिक शोध के दावे किये जाते हैं लेकिन ज़्यादातर दवा कम्पनियों की बैलेंस शीट में अनुसन्धान पर खर्च के बजाय भारी रकम मुनाफ़े और बैंक बैलेंस के रूप में दिखायी देती है।

– दूसरे, पिछले चार दशकों में भारत की दवा कम्पनियों ने एक भी ऐसी नयी दवा विकसित नहीं की है जो सफलतापूर्वक अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बेची जा रही हो।

तर्क 4. भारत में दवाओं के दाम दुनिया में सबसे कम हैं

सच्चाई :

– यह दावा सरासर ग़लत है क्योंकि ज़्यादातर आयात की गयी दवाइयाँ बहुत ऊँचे दामों पर बिकती हैं। दूसरे, भारत में वेतन आदि का खर्च विदेशों के मुकाबले काफ़ी कम होता है। इसके अलावा, चूँकि दवा कम्पनियाँ केवल जनवरी 2005 के बाद पेटेण्ट की गयी दवाओं पर ही विदेशी कम्पनियों को रॉयल्टी चुकाती हैं, इसलिए अन्य दवाओं के दाम बहुत कम होने चाहिए।

स्रोतः डॉ. चन्द्र एम. गुलहाटी, सम्पादक, मन्थली इण्डेक्स ऑफ मेडिकल स्पेशियैलिटीज़ (MIMS)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधीपुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006